॥ॐ॥

एक के ज्ञान से सर्व का ज्ञान

-------प्रस्तावना--------

वेदान्त की मुख्य प्रतिज्ञा यह है कि एक के ज्ञान से सर्व का ज्ञान होता है।ऐसी प्रतिज्ञा कैसे सिद्ध हो उसके उपाय इस पुस्तक में दिए हुए हैं।

इस पुस्तक में आखरी निर्णय दिया हुआ होने से शुद्ध अंतःकरण वाले की रूचि के अनुसार ज्ञान इसमें से मिलेगा। जिन्हों ने दानपुण्य करके दोष निवृत्ति की हो उनको ऐसी बाबत में बराबर रूचि उत्पन्न होती है। अभ्यास और वैराग्य से जिनका मन शांत हुआ हो वे वेदांत का रसपान कर सकते हैं।जिनको ऐसे ज्ञान में रूचि उत्पन्न नहीं हो उन्हें यज्ञ,निष्काम कर्म,दान,तप आदि करना चाहिए और रूचि उत्पन्न होने के बाद उनको गौण समझकर ऐसे ज्ञान में लगना चाहिए।जबतक गुण-दोष रह जाते हैं तभीतक अद्वैतात्मक बुद्धि उत्पन्न नहीं होती,क्योंकि गुण-दोष रहते हैं तभीतक जगत में सत्यत्व की भ्रांति रहती है।जो लोग प्रत्यक्ष प्रमाण को सच्चा मानते हैं वे जगत की सत्ता देखकर अद्वैतज्ञान की ओर नहीं आते।प्रत्यक्ष प्रमाण सच्चा है कि नहीं उसकी वे जाँच नहीं करते।अतः कई बार उनको वेदांत में अरुचि उत्पन्न होती है।

ब्रह्म से लेकर छोटे जीव पर्यन्त संसार को जो निःसार समझते हैं और जो विषयभोग की वासना से निवृत्त हुए हो वे ही आत्मचिंतन के लिए तत्पर हो सकते है,अतः यह ग्रन्थ वैराग्य वालों को और तत्वजिज्ञासुओं को उपयोगी है।ऐसे पुरुष स्वतः सन्यास ग्रहण करते हैं अथवा संन्यासी जैसे होकर रहते हैं।उनको सहज वैराग्य रहता है।वैराग्य यानी फांसी की सजा समझना है।गृहस्थाश्रम में चित्त को विक्षिप्त करनेवाले कर्म अधिक हैं,अतः गृहस्थाश्रम में ज्ञान प्राप्त करना कष्टसाध्य है।निवृत्ति में और संन्यास में चित्त को विक्षिप्त करनेवाले कर्म नहीं होने से ज्ञान सुलभ है।गृहस्थ भी यदि कर्मविक्षेप सहन करके ज्ञाननिष्ठ हो तो वह भी मुक्त हो जाता है,लेकिन उससे विक्षेप सहन नहीं हो तो निवृत्ति लेनी चाहिए,अथवा वानप्रस्थ आश्रम अथवा संन्यास लेना चाहिए।आत्मज्ञान में सभी पुरुषार्थ समाप्त हो जाते हैं।जैसे ब्रह्मविद्या प्रत्यक् भुत ब्रह्म के अनुरूप होने से ब्रह्मप्राप्ति का हेतु है।वैसे पुत्रेषणा,वित्तेषणा और लोकेषणा का त्याग भी ब्रह्मज्ञान के अनुरूप होने से ब्रह्म प्राप्ति का हेतु है। परमात्मा का ज्ञान होनेपर ज्ञेय समाप्त हो जाता है;फिर कुछ जानना शेष नहीं रहता।

मनुष्य का जीवन जुले में से नहीं शुरू होता और स्मशान में पूर्ण नहीं होता लेकिन अज्ञान से शुरू होता है और आत्मज्ञान से पूरा होता है।बादमें कर्तव्य बृद्धि से कुछ कर्म शेष नहीं रहता।सहज कर्म के रहने पर ज्ञानी पुरुष को कोई हरकत नहीं है।उसको कुछ करने से लाभ नहीं और कुछ न करने से भी लाभ नहीं है।ऐसी बात गीता के तीसरे अध्याय में भगवान ने स्पष्ट की है।ज्ञानी को स्वरुप की स्फूर्ति से लाभ होता है। ऐसी दशा में ज्ञेय की समाप्ति हो जाती है,उसीको वेद-अंत अथवा वेदांत कहते हैं।

जिनको सिर्फ पंडित होना है,लोगों में प्रसिद्ध होना है,अच्छे भोजन,घर आदि के सुख चाहिए,उनको मोक्ष नहीं मिलता,किन्तु निर्जन अरण्य में रहनेवाले,जितेंद्रिय,आध्यात्म चिंतन में तत्पर रहने वाले को मोक्ष मिलता है,यतियों के हाथ पैर या इन्द्रियों में चंचलता नहीं होती।उनमें इन्द्रियों का सयंम होता है।भेददर्शी पुरुषों में पाप की संभावना है,अभेददर्शी पुरुष पाप नहीं कर सकते।

श्रीमद् भागवत में शुरुआत में युवान भक्ति के दो वृद्ध पुत्र ज्ञान और वैराग्य बतलाये हैं।उनकी कृशता को देखकर भक्ति रोती है।उसमें ज्ञान को बलशाली बनाने के उपाय इस पुस्तक में हैं।वैराग्य के कारण तो संसार में अनेक मिलते हैं।उनको याद रखे जाय तो वैराग्य भी स्वस्थ एवम् बलवान होता है और दोनों पुत्र स्वस्थ और युवान हो तो भक्ति को भी आनंद रहेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि भक्ति के बिना का ज्ञान शुष्क रहता है।लेकिन श्री भागवत के प्रारंभ में कहा है कि ज्ञान बिना की भक्ति रोती है और गीता में भगवान कहते हैं कि ज्ञानी भक्त तो मेरा आत्मा ही है।

सच्चे ज्ञान की महिमा बहुत बड़ी है।उस ज्ञान को इस छोटी पुस्तक में हो सका उतना स्पष्ट किया हुआ है।

स्वामीमाधवतीर्थ

वेदांत आश्रम

गांव-फुलपुरा, पो-वलाद

जि.गांधीनगर ३८२५५५

दि.६-५-४८

॥ दो शब्द ॥

बड़े बड़े पंडित,विज्ञानी ऐसा कहने को समर्थ नहीं है कि अब मुझे कुछ भी जानना शेष नहीं है।दुन्यवि जानकारी कभी पूर्ण नहीं होती और इसीलिए वेदान्तप्रेमी उसको जानने के लिए समय नहीं बर्बाद करते।उन्हें तो ऐसा ज्ञान चाहिए कि फिर कुछ जानना शेष न रहे।

स्वामी श्री माधवतीर्थजी ने ऐसे 'आत्मज्ञान' को प्राप्त करने का मार्ग इस पुस्तक में शास्त्र पद्धति से यानि कि गुरु-शिष्य संवाद से बतलायी है आत्मज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी कौन है उसका भी यहाँ सरल भाषा में वर्णन किया हुआ है। इस अप्राप्य पुस्तक का पुनः मुद्रण करवाकर जिज्ञासुओं के हाथमें रखते हुए ट्रस्टीमंडल हर्ष का अनुभव करता है। आशा है कि भक्तजन इस पुस्तक का उपयोग कर आत्मज्ञान की प्राप्ति के अधिकारी बनने का प्रयास करेंगे।

श्रीजी प्रिंटर्स ने यह पुस्तक अच्छी तरह से और समयपर छाप कर देने के लिए ट्रस्टि मंडल उनको धन्यवाद देता है।
दिनांक .५-७-२००१ वेदांत आश्रम ट्रस्टि मंडल

प्रकरण-१

वेदांत की प्रक्रिया

श्री अथर्व वेद के मुण्डक उपनिषद के आरंभ में ऐसी कथा आती है कि एक प्रसिद्ध महान गृहस्थ शौनक विधिपूर्वक अंगिरा नामक गुरु के पास जाकर निम्न लिखित प्रश्न करते हैं: "किसका विशेष ज्ञान होने से यह सर्व वस्तु विशेषरूप से जानने में आ सकती है ? कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ?"

उसके उत्तर में अंगिरा मुनि कहते हैं कि "एक ब्रह्म स्वरुप को जानने से सबकुछ जाना जाता है क्योंकि उसमें से सब हुआ है,उसमें निम्नलिखित कुछ दृष्टांत दिए हुए हैं :-

१. जैसे मकड़ी तंतु उत्पन्न करती है और ग्रहण करती है।

२. जैसे पृथ्वी में से औषधियां बनती हैं।

३.जैसे चेतन पुरुष में से अचेतन केश और रोम उत्पन्न होते हैं वैसे अक्षर ब्रह्म में से यह जगत उत्पन्न हुआ है।उपरोक्त तीनों दृष्टांत में भेद नहीं है,फिर भी भेद दिखे तो सत्ता ब्रह्म की है और क्रिया ब्रह्म की शक्ति की अथवा माया की है ऐसा समझना चाहिए,प्रथम दृष्टांत में भेद जैसा मालूम पड़ता है,क्योंकि मकड़ी से मकड़ी की जाल अलग हो जाती है।दूसरे और तीसरे दृष्टांत में भेद और अभेद दोनों हो वैसा मालूम लगता है।ब्रह्म का अनुभव इन्द्रियों से नहीं होता,अपितु ज्ञान से होता है,अतएव उसी उपनिषद् में चौथा दृष्टांत ऐसा है कि जैसे बहती नदी नाम और रूप का त्यागकर समुद्र में अस्त होती है।वैसे ही विद्वान पुरुष नामरूप से विमुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है।जिज्ञासु की बुद्धि शुक्ष्म तत्व समझने के योग्य हो क्रमशः चढ़ते दृष्टांत दिए हुए हैं। श्रीमद् भागवत की वेद स्तुति में भी ऐसी क्रमवार प्रक्रिया समझाई हुई है यानी प्रथम भेद की बात करके सत्ता एक रखी हुई है।फिर भेद और अभेद साथ में साथ में बतलाये हैं। ऐसा ही दूसरा प्रश्न श्री सामवेदीय छान्दोग्य उपनिषद के छठे प्रकरण में श्वेतकेतु उसके पिता उद्दालक के सामने रखता है।उसमें ऐसा प्रश्न किया है कि :-

१. जो उपदेश मिलने के बाद नही सुना हुआ सुना हुआ होता है,

२. नहीं तर्क किया हुआ तर्क किया हुआ होता है,

३. नहीं निश्चय किया हुआ निश्चय किया हुआ होता है,यानी ऐसा कौनसा तत्व है कि जो एक को जानने से सभी का ज्ञान हो ! उसके जवाब में निम्नलिखित दृष्टांत गुरु (पिता) देते हैं:- १. जैसे मिटटी के पिंड में से मिटटी का ज्ञान होनेपर मिट्टि के सभी कार्य का ज्ञान होता है ; २. जैसे एक सोने की चूड़ी का ज्ञान होनेपर उसके कार्य यानी सोने के गहने का ज्ञान होता है। ३. जैसे लोहे के गोले के ज्ञान होनेपर उसमें से उत्पन्न हुई लोहे की वस्तुओं का ज्ञान होता है,उसमें कार्य सिर्फ वाणी का विषय है अर्थात् सत्य नहीं है।लेकिन कारण ही कार्य के रूप में दिखता है;

ऐसे ही इस कार्यरूप जगत ब्रह्मरूपी सत्य का कार्यरूप से सिर्फ दिखावा है; यानी जो यह सुक्ष्मभाव है यानी आत्मवाला अथवा चेतनवाला जगत है।वह सत्य है,वह आत्मा है।बृहदारण्यक उपनिषद में दूसरे अध्याय में चौथे ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य मैत्रियी को कहते हैं कि 'आत्मा ही अनुभव करने योग्य है,श्रवण करने योग्य है,युक्ति के द्वारा मनन करने योग्य है और निश्चयपूर्वक ध्यान करने योग्य है' आत्मा के अनुभव से,श्रवण से और मनन से और ध्यान से सब को जाना जा सकता है। जिसको अन्य दिखता है वह अन्य उसको देखनेवाले को अपने से अलग करता है,लेकिन वास्तवमें सब आत्मरूप है। हे श्वेतकेतु वह सत् तू है, 'तत्वमसि'। गीता में भी कहा है कि,

'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

वेदेश्च सर्वैरहमेव वैद्यो।

अर्थात् सर्व एक वासुदेव है और वही जानने योग्य है। उपरोक्त प्रमाणों में वेदांत की मुख्य प्रक्रिया समाप्त होती है।जिनकी इच्छा इस विषय पर अधिक अभ्यास करने की हो,उनको मुख्य उपनिषदों का अभ्यास कोई ब्रह्मनिष्ठ और श्रोत्रिय गुरु के पास करना चाहिए।उसमें उपनिषदों पर के श्री शंकराचार्य के भाष्य का सहयोग भी लेना चाहिए।

जिन्होंने इसप्रकार का अभ्यास पूरा किया हो उनके लिए ज्ञेय की समाप्ति हो जाती है,फिर भी अधिक शुक्ष्म विचार के लिए और अधिक निष्ठा की जरूरत हो तो वेदांत के कुछ प्रकरण ग्रन्थ जैसे कि पंचदशी,विचारसागर,विवेक चूड़ामणि,नैष्कर्म्यसिद्धि,मैं कौन ? आदि मददरूप होते हैं।इनका मनन और निदिध्यासन उपयोगी है।ऐसी एक छोटी पुस्तक तैयार हो तो वेदांत के जिज्ञासुओं को अधिक सुविधा हो ऐसे उद्देश्य से गुरु शिष्य के संवाद के रूप में कुछ शुक्ष्म बातें यहां दी जाती हैं।प्रश्नों और उत्तर के रूप में कठिन बातें सरलता से समझ सकते हैं अतः नीचे प्रश्न और उत्तर दिए हुए हैं।

शिष्य-यदि एक के ज्ञान से सर्व का ज्ञान हो तो मनुष्य को जन्मते ही अनेक का ज्ञान क्यों होता है ?

गुरु- उसमें मनुष्य के प्रमाण का प्रश्न है।यह प्रमाण सच्चा है कि नहीं ऐसा जानना हो तो उस प्रमाण से अलग होकर विचार करना चाहिए।साधारणतया व्यवहार में दृश्यानुरक्ति अधिक रहती है अर्थात जो दिखता है उसमें मनुष्य का मन चला जाता है।अतः व्यवहारिक दशामें प्रमाण और प्रमाता का विचार ठीक नहीं हो सकता।स्वप्न में जो दिखता है उसमें मन चला जाता होने से स्वप्न का ज्ञान सच्चा है कि नहीं उसका विचार उस समय नहीं हो सकता और गलती से एक का ज्ञान होता होता है,वैसे ही जाग्रत में भी जहाँ दृश्यानुरक्ति अधिक होती है वहां प्रमाण की गलती का पता नहीं चलता।उसको व्यवहार ज्ञान कहते हैं।नौ को गिननेवाला दसवे को भूलता है।समाजसेवक अपने को छोड़कर दूसरे सभी को सुधारना चाहता है और वर्तमान सायंन्सवाले भी कहते हैं कि हमने प्रमेय का (दृश्य) का विचार करने में प्रमाण का विचार नहीं किया।अतः हम २००० साल तक गलती में थे।

शिष्य- प्रमाण का विचार कैसे हो ?

गुरु - वेदांत का श्रवण करने से सच्चा प्रमाण (ब्रह्माकार वृत्ति) मिलता है,वेदांत के मनन से सच्चा प्रमेय(जीव-ब्रह्म की एकता) समझमें आता है,और वेदांत के निदिध्यासन से प्रमाता का बाध होकर,कूटस्थ का ब्रह्मरूप से अनुभव मिलता है।

शिष्य-प्रमाता कौन है ?

गुरु -स्मरण,निश्चय,संदेह,राग,द्वेष आदि वृत्तियों में अहं रूप से जो सतत रहा हुआ है वह यानि उस उस आकार वाली वृत्तियों में अपने को उस उस वृत्तिवाला जो मानता है वह प्रमाता है और मुझे अमुक बात याद आती है ऐसा जो कहता है वह अनित्य चैतन्य प्रमाता है।और चैतन्य अपने स्वरुप से नित्य है लेकिन वह वह वृत्ति,धर्म और अधर्म के हेतुवाली होने से उत्पत्ति और विनाशवाली है नित्य नहीं है।अतः वृत्ति वाला चेतन भी अनित्य कहाता है,उसको वेदांत में प्रमाणचैतन्य कहते हैं।जैसी वृत्ति है वैसा जीव है।उस प्रमाता में जड़भूत वृत्ति की प्रधानता से कर्तृत्व प्रतीत होता है और चिदाभास की प्रधानता से भोक्तृत्व मालूम पड़ता है। ऐसे "मैं" अर्थ में कर्ता भोक्ता का व्यवहार होता है।चैतन्य सदा स्थायी है लेकिन लेने देने की उपाधिभूत दृष्टि में नित्य दृष्टि प्रतीत होती है।उसका कारण यह है कि सभी वृत्तियों का आश्रय एक है।अतः आश्रय का एक का ज्ञान हो तो सर्व का ज्ञान होता है। लेकिन आश्रय का ज्ञान वृत्ति से नहीं होगा क्योंकि जो वृत्ति रूप को देखकर रूपवाली होती है वह प्रमाता में उत्पन्न होती है।आश्रय अथवा चैतन्य उस वृत्ति के विषय नहीं होते। प्रमाता क्रिया व्याप्त है।लेकिन प्रत्यगात्मा क्रिया व्याप्त नहीं होता।प्रत्यगात्मा को आत्मा कहते हैं।प्रमाता वृत्ति के साथ रहता है। उसमें सापेक्ष चैतन्य है क्योंकि वह चैतन्य सर्व व्यापक होने से वृत्ति के साथ रहता है।उस चैतन्य का दूसरा नाम

चिदाभास है।चिदाभास प्रमाता के द्वारा वृत्तिज्ञान के रूप में परिणाम को प्राप्त होता है।उस परिणाम में निमित्त कारण,धर्म और अधर्म है।अतः ज्ञान आदि की वृत्तियुक्त चैतन्य प्रमाता अथवा चिदाभास है। प्रमाता,प्रमाण और प्रमेय का ज्ञान ज्ञान जिस शुद्ध साक्षी से होता है उस साक्षी के ज्ञान को अनुव्यवसाय ज्ञान कहते हैं।

शिष्य- शुद्ध चैतन्य कैसा है ?

गुरु - शुद्ध चैतन्य को आत्मा,कूटस्थ,साक्षी,अथवा प्रत्यागात्मा अथवा जीव का लक्ष्यार्थ कहते हैं।उसकी सिद्धि के लिए देशकाल की अपेक्षा नहीं है।क्योकि देशकाल आदि जड़ है।साक्षी के बिना उसकी सिद्धि नहीं है।*(*इस विषय में विस्तृत जानकारी चाहनेवालों को हमारी गुजराती भाषा में प्रकाशित पुस्तक 'विज्ञान नी दृष्टिऐ माया नु स्वरुप' पढ़नी चाहिए) साक्षी देश और काल के पूर्व सिद्ध है उसके बाद उत्पन्न हुए देशकाल आदि अपने से पूर्वसिद्ध साक्षी के साधक नहीं हो सकते।देशकाल आदि की कल्पना साक्षी के साक्षात्कार में बाधक होता है।

शिष्य - साक्षी की हयाती* का निश्चय कैसे हो ?

गुरु - नींद में से उठने के बाद मनुष्य कहता है कि मैं सुख से सोया था। वह किसी अनुभव का स्मरण है।साक्षी के बिना स्मरण हो नहीं सकता।और साक्षी भी सामने कोई हो या न हो तो भी वह साक्षी कहलाता है। नींद में कुछ नहीं है उसका साक्षी है। जाग्रत और स्वप्न में कुछ है तो उसका साक्षी है।

शिष्य- जगत का कारण क्या है ?

गुरु - कार्य प्रपंच जड़ है।यदि ब्रह्म को जगत का कारण मानेंगे तो कार्य में जड़ता होने से उसके कारण ब्रह्म में भी जड़त्व आयेगा,क्योंकि कार्य के अनुसार कारण माना जाता है।अतः जडशक्ति विशिष्ट चेतन में कारणपना है।शुद्ध चेतन में कारणपना नहीं है अतएव आत्मा में भी कर्तापन नहीं है।यद्यपि आत्मा अक्रिय है,दर्शन आदि की क्रिया आत्मा में नहीं है परंतु मनोवृत्ति में व्यापक है इसलिए व्याप्ति के द्वारा कर्तापन आत्मा में आरोप कर आत्मा में कर्तापन माना जाता है।ऐसे ही माया में ईश्वर व्यापक होने से उस व्याप्ति के द्वारा जगत का कारणपना ईश्वर में आरोपित होता है।उसमें सत्ता ब्रह्म की है और क्रिया माया की है।चैतन्य की ऐसी व्यापकता धूम्र और अग्नि के समान नहीं है।लेकिन रज्जु-सर्प के जैसा है। रज्जु-सर्प में व्याप्य-व्यापक का तादात्म्य है। रज्जु से पृथक् रज्जु-सर्प की स्थिति नहीं है लेकिन संपूर्णतया रज्जु में ही उसकी स्थिति है।पहाड़ के नीचे के भाग में अग्नि है और ऊपर के भाग में धुंआ है। देश और काल के भेद से ,असाधारण तत्व स्वरूप से भिन्न दो पदार्थों में रहता है।अग्नि में तेजपना और धुंए में पृथ्वीतत्व असाधारण तत्व है।ये दोनों भिन्न होने से समान देश में एक काल में नहीं रह सकते अतः धुँआ हो वहां अग्नि हो ऐसी व्याप्ति गौण है।चैतन्य और मनोवृत्ति की व्याप्ति रज्जु-सर्प के जैसी है।मनोवृत्तिरूप कार्य-दृष्टि आगंतुक विषय बाबत में और इन्द्रियों के संबंध के समय उत्पन्न होती है।अतः उस संबंध से आत्मदृष्टिरूप चैतन्य भी भी आगंतुक के सदृश्य दिखता है।

वृत्ति स्वयं जड़ है लेकिन आत्म चैतन्य की

छाया से संयुक्त होकर भासक होती है।अतः चैतन्य के योग से मनोवृत्ति को दृष्टि कही जाती है।

शिष्य - साक्षी यदि कोई वस्तु है तो वह प्रमाण से मिलना चाहिए।

गुरु - प्रत्यक् चैतन्य रूप साक्षी उत्पत्ति और विनाश से शून्य है और इसलिए वह कूटस्थ है। नींद के समय का उसका अनुभव जाग्रत होने के बाद प्रत्यभिज्ञा से मालूम पड़ता है,वह प्रमाता से नहीं पकड़ा जा सकता। जिसका जैसा स्वभाव हो वैसा बनकर रहता है। आत्मा अथवा कूटस्थ अविषय स्वभाव वाला है,अतः उसको विषय रूप से नहीं बतलाया जा सकता।

शिष्य-यदि आत्मा दृष्टि आदि का विषय नहीं है तो उसकी सिद्धि कैसे हो सकेगी ?

गुरु - जिस क्रिया का जो कर्ता हो उस क्रिया का कर्म वह नहीं हो सकता।यह अनुभव सिद्ध है।कोई बाजीगर लोगों को अनेक खेल दिखाये लेकिन स्वयं अपने कंधेपर चढ़ने का खेल नहीं दिखा सकता,अतः आत्मा वृत्ति का विषय नहीं है।वह स्वयं प्रकाश है। स्वज्ञान का स्वयं विषय नहीं हो सकता अतः आत्मा अप्रमेय माना जाता है।

शिष्य -तो आत्मा कैसे काम करता है ?

गुरु-जैसे लोहचुंबक अपने नजदीक पने से लोहे को आकर्षित करता है वैसे आत्मा स्वयं अक्रिय होते हुए भी सन्निधिमात्र से इन्द्रियों का प्रवर्तक होता है।

शिष्य- अनात्म पदार्थ का स्वरुप कैसा है ?

गुरु -आत्मव्यतिरिक्त वस्तु आत्मा में कल्पित होने से आत्म सिर्फ स्वरुप है।अतः व्यतिरेक नहीं बनता और अन्वय भी नहीं बन सकता। वस्तुतः आत्मा का अन्वय नहीं हो सकता। आत्मा अन्वय और व्यतिरेक आदि के योग्य नहीं है,ऐसा कहने का अर्थ ऐसा है कि आत्मा ही सर्व है।कल्पित की पृथक् सत्ता नहीं है अतः अन्वय भी कैसे होगा ? व्यतिरेक और अन्वय दोनों भिन्न वस्तु परस्पर सापेक्ष हैं।जबतक प्रतीयमान प्रपंच के स्वरुप का अपलाप नहीं हो तभीतक विरुद्ध धर्म का ज्ञान श्रद्धावाला नहीं होता। जैसे सीपी में भ्रान्ति हो तभी उस रूपा को सीपी कहने में आये तो सीपी के स्वरुप का वास्तविक (शंका रहित) ज्ञान नहीं हो सकता,लेकिन संदेह होगा कि यह सीपी है या रूपा ? इसके लिए रूपा के निश्चयवाला पुरुष प्रथम अन्यथा प्रश्क्त रूपा का निषेध करता है और कहता है कि "यह रूपा नहीं है" तो फिर यह क्या है ? इस शंका की निवृत्ति के लिए कहता है कि "सीपी है" वैसे ही सिद्धांत में प्रथम प्रपंच में प्रतीयमान रूप का निराकरण करके फिर आत्मस्वरूप का बोध ऐसे किया जाता है कि यह सब आत्मस्वरूप है अतः एक का ज्ञान होनेपर सर्व का ज्ञान होता है।

शिष्य -तो भेद कैसे होता है ?

गुरु - अभेद में भेद की कल्पना करके "ब्रह्म से भिन्न जीव" बोला जाता है। भिन्न सत्ता वाले भेदाभेद की प्रतीति एक पदार्थ में हो उसमें विरोध नहीं है,जैसे रज्जु में सर्प । समसत्ता वाले भावाभाव की एक में प्रतीति विरुद्ध है।और अरोप्य पदार्थ अपने उपादान के अज्ञान समकालीन प्रतीत होते हैं अतः अज्ञान की निवृत्ति के साथ आरोपित पदार्थ और उसके धर्मों की निवृत्ति हो जाती है।अतः आत्मा में अब्रह्मत्व की और ब्रह्म में अनात्मा की निवृत्ति होती है।दोनों अविद्या वाले होने से ज्ञान बाध्य है।

शिष्य- अभेद विषयक अधिक स्पष्टीकरण की जरूरत हो ऐसा लगता है।

गुरु- अभेद दो प्रकार के होते हैं। एक वास्तविक और दूसरा गौण, "वह ये देवदत्त है" इस वाक्य में उन देशकाल और देशकाल का परित्याग करके सिर्फ धर्मी मात्रा का अभेद दिखता है।यह अखंड अर्थ है।उसमें पहले के देवदत्त का और अभी के देवदत्त का संसर्ग हो वैसा भान नहीं होता।संसर्ग का बोध तो दो संसर्गियों के बिना नहीं हो सकता।यहां दो संसर्गी नहीं है।दूसरा अभेद हरा पत्ता यहां हरे पदार्थ का पान के साथ अभेद प्रतीत होता है। हरा और पत्ता ऐसे दो पदार्थ होने से अखंड वास्तविक अभेद नहीं बनता।जीव और

ब्रह्म का अभेद हरे पत्ते जैसा अवास्तिक नहीं है,लेकिन "वह ये देवदत्त है" इस प्रकार का अखंडरूप वास्तविक है।और कल्पित प्रपंच अकल्पित आत्मा का परिच्छेदक नहीं होता । जो आत्मा व्यापक है उसमें भेद नहीं बनता।

शिष्य-यदि सभी में आत्मा है तो सभी कहां से आये ?

गुरु -जैसे माला में सर्प की भ्रान्ति है फिर भी वस्तुतः वह माला ही है वैसे आत्मा में प्रपंच का विभ्रम है फिर भी वस्तुतः आत्मा ही प्रपंच के रूप में दिखता है। आत्मा से व्यतिरिक्त यदि प्रपंच की सत्ता ही नहीं है तो वैसा प्रपंच परिच्छेदक कैसे होगा ? एक में परिच्छेदा-परिच्छेदक भाव बन ही नहीं सकता।

शिष्य- घट आदि पदार्थ तो दिखते हैं।

गुरु - दिखता है लेकिन अंतःकरण की वृत्ति के द्वारा दिखता है। उस वृत्ती का प्रमाण सच्चा है कि नहीं उसकी जाँच करनी चाहिए।घड़े पर मख्खी बैठी हो तो मख्खी की दृष्टि में वहां घड़ा नहीं है। और घड़ा स्वयं भी नहीं कहता कि वह घड़ा है।आत्मा तो स्वयं प्रकाश है। उसकी प्रत्यक्षता में स्वसत्ता है।और कोई व्यवधान (अंतराय) नहीं है।ब्रह्म स्वयं अव्यावृत है और अननुगत है।घट पट आदि कार्य परस्पर व्यावृत्त है। ब्रह्म किसीका कार्य नहीं है इसलिए अव्यावृत्त है,कारण कार्य में अनुगत रहता है। मृत्तिका के स्वभाव की अनुवृत्ति घट में है; स्वभाव की अनुवृत्ति से भी कार्य-कारण भाव का परिज्ञान होता है। ब्रह्म किसीका कारण नहीं है अतः वह किसी स्थान पर अनुवृत्त नहीं है।

वस्तुतः कारणत्व तो कार्य निरूपित होता है। जहां कार्य वास्तविक नहीं है वहां कारण किसको कह सकते हैं ? व्यापार शून्य कारण नहीं होता । ऐसी बात लोक में प्रसिद्ध है।

आत्मा में उत्पत्ति, प्राप्ति, विकृति या संस्कृति नहीं है।अज्ञान के बिना आत्मा में कर्तापन आयेगा नहीं।कर्म भी अतीन्द्रिय है। इसलिए उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण काम नहीं करता।

शिष्य- मोक्ष किसका होता है ?

गुरु - अज्ञान का । मुक्ति साध्य हो तो उसमें ज्ञान के साथ कर्म चाहिए,किन्तु बंधन अविद्या से होने के कारण उसका कर्म से नाश नहीं होता।कर्म का सामर्थ्य उत्पत्ति,प्राप्ति,विकृति और संस्कृति में है।मोक्ष उन चारों में कोई स्थिति नहीं है।आत्मस्वरूप मोक्ष है । जबतक व्यापार है तभीतक संसार है। विद्या वस्तु के आधीन है।क्रिया कर्ता के आधीन है। कूटस्थ कर्ता नहीं है। क्रिया का आश्रय कर्ता होता है। क्रियाश्रयत्व अविद्या उपहित आत्मा में रहता है। कर्म का हेतु अध्यास है और ज्ञान का हेतु बोध कारण प्रमाणभूत अद्वैतश्रुति वाक्य है । कर्म जड़ है,ज्ञान अजड होने से भासक है।जिसमें आत्मैकत्म ज्ञान उत्पन्न हुआ हो वह द्वैत ज्ञान का उपमर्दन करता है अतः साध्य साधन आदि भेद सापेक्ष कर्म का अनुष्ठान ही ज्ञानी से नहीं बन सकता।

शिष्य - कर्म से अज्ञान कैसे दूर होता है ?

गुरु - कर्म अज्ञान जन्य है। जन्य जनक का निवर्तक नहीं होता। जैसे रज्जु-सर्प का ज्ञान अज्ञान जन्य होने से अपने उपादान-रूप अज्ञान का निवर्तक नहीं होता।वैसे ही कर्म भी अज्ञानजन्य होने से अपने कारणभूत अज्ञान का निवर्तक नहीं होता। और जो प्रमेय का अनुसरण करता है ,वह पुरुषतंत्र नहीं है,कर्म पुरुष की इच्छा का अनुसरण करता है वह वस्तु का अनुसरण नहीं करता। कर्म साध्य साधन और कर्तृत्व की अपेक्षा रखता है। और आत्मैकत्वज्ञान उन सभी का निरास करता है। जब विद्वान आत्मव्यतिरिक्त किसी वस्तु को नहीं देखता। सिर्फ अपने को ही देखता है तभी कौन किससे काम करेगा। भेद के बिना प्रवृत्ति नहीं बनती। मोक्ष ज्ञान

साध्य भी नहीं है,क्योंकि ज्ञान से पहले संसारी मनुष्य में ब्रह्मत्व सिद्ध है।यदि आत्मा स्वतः मुक्त हो और परतः बद्ध हो तो मुक्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए किन्तु बंध वास्तविक नहीं है। वस्तु की ब्रह्म के समान निवृत्ति नहीं होती,और बंध अवस्तु है तो उसमें कर्म की जरूरत नहीं है। फिर भी चित्तशुद्धि के लिए कर्म की जरूरत है।अशुद्ध चित्त में अद्वैत दर्शन नहीं होता। अद्वैतमत में द्वैतभान ही अनर्थ है,उसकी निवृत्ति ही पुरुषार्थ है।परिच्छेद का कारण अज्ञान है कर्म नहीं,अतः ज्ञान की जरूरत है।

शिष्य- अज्ञान कैसे काम करता है।

गुरु - अविद्या का ज्ञानाकार परिणाम और ज्ञेयाकार परिणाम एक ही समय होता है और एक साथ बाधित होता है।अतः जिस समय जिस पदार्थ की प्रतीति हो उसी समय उस प्रतीति का विषय यानी पदार्थ भी प्रतीत होता है दूसरे समय उत्पन्न नहीं होता। दृष्टि-सृष्टिवाद में पदार्थ की अज्ञातसत्ता नहीं है। लेकिन ज्ञातसत्ता है,अर्थात् जिस समय जो पदार्थ जाना हुआ नहीं है उस समय वह नहीं होता। सच्चा ज्ञान हो तभी सच्चा अनेकत्व नहीं रहता। कल्पित अनेकत्व से ब्रह्म में द्वैत नहीं होता। स्वप्न में हम अनेक जीवों का वेश धारण करते हैं।और ठीक से सभी का कार्य करते हैं। हम उसमें से एक है ऐसा उस समय लगता है। उस एक को दूसरें उत्तर देते हैं। वे उत्तर देनेवालें भी हम ही है। ऐसी दशा में अनेक सच्चे जीव हो वैसा कैसे हो जाता है ? जाग्रत के व्यवहार में भी हम छोटी आयु के शरीर में थे।उसके बाद दो साल की आयु में,२० साल की आयु में,३० की आयु में अलग अलग शरीर हुये,फिर भी उसमें आत्मा एक ही रहा तो व्यवहार के समय अनेक लोगों के अनेक शरीरएक समय दिखे उसमें एक आत्मा है ऐसा मानने में क्या घाटा है ! ज्वर आया हो तभी उस उपाधि को लेकर जीव की दशा बदल जाती है,शराबी का जीव शराब पीने के बाद बदल जाता है, और उसके अनुसार जितनी जितनी उपाधि की दशा हो उतने प्रकार के जीव हो वैसा प्रतीत होता है। उसमें जो अनेकत्व प्रतीत होता है वह माया से प्रतीत होता है।अतः माया के ज्ञान का बाध करके आत्मा का ज्ञान रखे तो एक के ज्ञान से सर्व का ज्ञान सहज में हो सकता है।

--------- प्रकरण :-२ ----------

द्वैत निवृत्ती

शिष्य- संसार किसको लगा ?

गुरु -आत्मा में वास्तविक संसारीपना नहीं है।ऐसे ही ब्रह्म में वास्तविक परोक्षता नहीं है। यदि ये दोनों वास्तविक हो तो उसकी निवृत्ति नहीं हो । आत्मा का संसारीपना और ब्रह्म की परोक्षता अज्ञान से मालूम पड़ते हैं अतएव ज्ञान से ही उसकी निवृत्ति होगी। आत्मज्ञान होने के बाद कोई फल की कामना नहीं रहती इसलिए आत्मज्ञानी कृतकृत्य हो जाता है। मर्त्य साधन का फल भी मर्त्य होता है,अमर्त्य नहीं होता। जन्म होने से विनाशी कर्म का फल नित्य नहीं बनता। अतः कर्म मोक्ष का हेतु नहीं होता। आत्मा में संसारीपना नहीं है किन्तु अज्ञान से माना है वह ज्ञान से निकल जाता है।

शिष्य- यदि आत्मा शब्दगोचर नहीं है तो उसमें शब्द कैसे काम करेंगे ? और शास्त्र से वह कैसे जाना जायेगा?

गुरु - भागवत में वेदस्तुति में ऐसा प्रश्न राजा परीक्षित ने शुकदेवजी से पूछा है। वास्तविक आत्मा शब्द गोचर नहीं है।उसमें शब्द की शक्ति काम नहीं करती। लेकिन लक्षणावृत्ति से उसका बोध हो सकता है। आत्मतत्व का ज्ञान होनेपर अज्ञान और उससे उत्पन्न हुई इन्द्रियों की निवृत्ति हो जाती है। फिर उपाधि के अभाव से प्रतिबिंब की निवृत्ति होती है और बिंब के रूप में स्थिति बनती है। उपाधि के धर्म प्रतिबिंब का पक्षपात करते हैं। उपाधि का बाध होनेपर प्रतिबिंब का अध्यास नहीं रहता।

ब्रह्मवेत्ता दो प्रकार के होते हैं। सोपाधिक और निरूपाधिक। सोपाधिक सर्वात्मा होते हैं और अनुपाधिक निरुपाख्य कहलाते हैं। प्रथम मुक्ति को जीवनमुक्ति कहते हैं,दूसरी को परममुक्ति कहते हैं। जीवनमुक्ति में उपाधिभूत शुक्ष्म अविद्या रहती है।अतः मिथ्याभूत जगत का मिथ्यारूप से भान होता है।

अपने को ब्रह्मरूप से जाननेवाले ज्ञानीपुरुष संपूर्ण कल्पित जगत में ब्रह्म तत्व का अनुभव करते हैं।कल्पित वस्तु की निवृत्ति अधिष्ठानरूप होती है,अतएव ब्रह्म को सर्वात्मक समझकर ब्रह्म से अभिन्न स्व को भी सर्वात्मक समझते हैं। निरूपाधिक दशा देह छूटने के बाद प्राप्त होती है। उस समय कल्पना के निमित्तवाली उपाधि के अभाव से कल्पित जगत का भी अभाव न्याय प्राप्त है। जहां उपाधि नहीं है, वहां निरूपाधिक दशा है। उसीको विदेह कैवल्य कहते हैं। विदेह कैवल्य में अपने में सर्वात्मकत्व का भान नहीं होता,क्योंकि उस दशा में सर्व पदार्थ है नहीं,तो सर्वात्मकत्व का भान कैसे रहेगा !

शिष्य- लेकिन उपाधि की दशामें तो जगत दिखता है।

गुरु - ब्रह्मीभूत पुरुष को सब आत्मस्वरूप प्रतीत होता है। भ्रान्ति की दशा में रज्जु में सर्प आदि प्रतीत होते हैं लेकिन रज्जु का साक्षात्कार होनेपर सर्प की सत्ता रज्जु की सत्ता से अतिरिक्त प्रतीत नहीं होती। सर्प है ऐसी प्रतीति भी रज्जु की सत्ता से होती है। वैसे ही जगत है ऐसा भी ब्रह्म की सत्ता के कारण कह सकते हैं। लेकिन जगत को स्वतंत्र सत्ता नहीं है। जिसमें सत्ता नहीं है वह कोई वस्तु नहीं है। जगत स्वयं कहता नहीं है कि वह खुद कैसा है।

शिष्य -ब्रह्म कैसे मिले ?

गुरु - ब्रह्म हेय अथवा उपादेय नहीं है,क्योंकि वह व्यापक है और नित्य है। वस्तुतः द्वितीय अर्थ ही नहीं है कि जो हेय उपादेय हो सके। यानी ब्रह्म पाना नहीं है और छोड़ने जैसा भी नहीं है।

शिष्य - तो फिर निदिध्यासन कैसे करे ?

गुरु - निदिध्यासन दो प्रकार का है। एक ध्यान रूप कर्तृतंत्र और दूसरा फल स्वरुप वस्तुतंत्र। दूसरा ज्ञानी का निदिध्यासन है। प्रथम योगी के लिए है। ज्ञानी के निदिध्यासन में साधारण विशेष भाव नहीं है। अज्ञात ब्रह्म में चित्साधारण विशेष का संभव है। ब्रह्मज्ञान होनेपर साधारण विशेष का प्रतिषेध माना जाता है। जिसकी अविद्या निवृत्त होती है,उसमें विशेष संज्ञा नहीं रहती। अविद्या की दशा में विशेष संज्ञा की साधन सामग्री होते हुए भी आत्मा में संज्ञा नहीं रहती, तो जिस समय उस कार्य की सामग्री नहीं रहती उसमें विशेष संज्ञा नहीं रहती उसमें क्या कहना ? भोगजनक अदृष्ट प्रतिबंधक प्रारब्ध हो वह भोग की समाप्ति होनेपर चला जाता है, उससे संस्कारों का भी लोप होता है। जिस ज्ञानी की अविद्या निवृत्त हो गई है,उसको आत्मव्यतिरिक्त किसी पदार्थ की उपलब्धि नहीं होती। उपलब्धि कैसे होती है ? उसमें ग्राह्य ग्राहक भेद ही नहीं रहता। बृहदारण्यक उपनिषद में श्रवण के बाद 'विज्ञानेन' ऐसा शब्द लिया है। वहां निदिध्यासन यानी उसप्रकार का ज्ञान ऐसा समझना है। निर्विशेष वस्तु का ध्यान नहीं हो सकता। ध्यान मानस कर्म है। मनोगोचर पदार्थ का ध्यान हो सकता है। अद्वैत आत्मा निर्विशेष है। अतएव उसका मानस ध्यान भी नहीं हो सकता।

शिष्य- जो ज्ञाता ज्ञेय का बाध हो जाय तो आत्मज्ञान का मालिक कौन होगा ?

गुरु - ज्ञान दो प्रकार के होते है। एक वृत्तिरूप अविद्यावाला और दूसरा स्वयं प्रकाश चेतनरूप। प्रथम ज्ञान में ज्ञेय विषय की जरूरत पड़ती है। परंतु स्वयंप्रकाश खुद ही पर्याप्त है।अनात्म पदार्थ चैतन्य का विषय होता है लेकिन चैतन्य स्वयं विषय नहीं है। अपने में कर्म कर्तु का विरोध ही विषय भाव में बाधक है। विशेष संज्ञा का धर्मी अविद्योपाधिक चैतन्य है। उसके अभाव का धर्मी शुद्ध चैतन्य है। अविद्याजन्य बुद्धि की निवृत्ति ही विशेष संज्ञा की निवृत्ति है। बुद्धि के संबंध से संसार और बुद्धि के वियोग से मोक्ष ऐसा

सांख्य का भी सिद्धांत है। सांख्य की प्रकृति के बाद तुरंत महत्तत्व आता है,उसे समष्टि बुद्धि कहते हैं। वहीं से संसार शुरू होता है। जीव में भी ऐसा ही है। भ्रान्ति काल में सीपी में रूपा का व्यवहार होता है। लेकिन वह कोई वस्तु नहीं है, ऐसे ही अविद्या के समय ज्ञाता ज्ञेय का जो व्यवहार होता है,वह वस्तु नहीं है। विशेष संज्ञा का कारण शरीर आदि संबधियों में अन्यत्व बुद्धि है, अर्थात ब्रह्म से अन्यत्व बुद्धि है वह शरीर, इंद्रियां आदि उपाधि का विलय होनेपर नष्ट हो जाती है। कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है। जल सुख जाने से सूर्य और चंद्र का प्रतिबिंब उसमें नहीं रहता। परमार्थ सूर्यरूप बिंब का जैसे नाश नहीं होता वैसे आत्मा का नाश नहीं है।वह स्वयंप्रकाश होने से स्वयं अनुभवरूप बनता है। उसका ज्ञान होने के बाद कोई अज्ञात वस्तु नहीं रहती। क्योंकि वह सभी का अधिष्ठान है। घट के ज्ञान से घट के अज्ञान की निवृत्ति होती है। लेकिन पट का अज्ञान रह जाता है। उस उस ज्ञान से उस उस अज्ञान की निवृत्ति होती है। लेकिन आत्मा के ज्ञान से सर्व का ज्ञान होता है। और सभी अज्ञान निवृत्त होते हैं,क्योंकि आत्मव्यतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। आरोप से भिन्नत्व प्रतीत होता है। मुक्ति दशा में आरोप नहीं है। उस दशा में आत्मा स्वयं प्रकाश है। जीव ईश्वर आदि भेद के निमित्तरूप अज्ञान के अभाव से भिन्न भिन्न रूप की प्रतीति नहीं होती। ब्रह्म में कार्यत्व का निषेध स्पष्ट है कारण निरूपित कार्य होता है। कारण के प्रत्तिषेध से उसमें अकार्यत्व सिद्ध है। ब्रह्म सदा अपरोक्ष है उसमें परोक्षता अज्ञानकृत है। आत्मा में संसारीपना भी अज्ञान कृत है। आत्मा में ब्रह्मता और ब्रह्म में आत्मता सदा सिद्ध है। सिर्फ अज्ञान ही उसमें अंतराय रूप है,इसलिए प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता। ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त जितने जीव और शरीर के भेद प्रतीत होते हैं वे आत्मयाथात्म्य के आवरण से होते हैं। वस्तुतः आत्मा ही मात्र तत्व है और उसका अनुभव अनुभव न हो ऐसा कैसे हो सकता है ? परंतु एक को लेकर बैठने की आदत नहीं डाली। अनेक को सच्चे माने हो तो अनेक का अनुभव रहेगा,एक का नहीं रहेगा। अविद्या अनेक रूप वाली है,इसलिए उसके संबंध से आत्मा भी कार्य कारण भाव को प्राप्त होता है। और साभास मन ,बुद्धि आदि उपाधियों के भेद से अनेक भाव को प्राप्त होता है। जितने साभास हैं वे सभी अज्ञान जन्य हैं एक मिथ्याज्ञान में से अनेक मिथ्या ज्ञान निकलते हैं। अविद्याजन्य श्रोत के द्वारा श्रोता होता है,स्पर्श के द्वारा स्पष्टा होता है,शरीर के द्वारा श्याम,गौर होता है। देह के द्वारा धन के संबंध से शेठ,गौओं का मालिक हो तो गोपालक,धन नहीं होतो दरिद्र, ऐसे अनेक व्यवहार आत्मा में प्रसिद्ध हैं। ऐसी अनेक प्रकार की अविद्या से आत्मा में जीवभाव प्राप्त होता है। अतः जब ज्ञान से प्रपंच सहित अविद्या की निवृत्ति हो तभी जीव भाव की निवृत्ति जरुरी है। जीव का आत्मा तो मुक्त है,उसमें रहे हुए अनात्मभाव की मुक्ति करनी है।

शिष्य- आत्मा में दुःख का भान कैसे होता है ?

गुरु- किसी अधर्म आदि से कांटे आदि का योग होनेपर देह में जब विकार होता है तभी देह में व्याधि(दुःख) उत्पन्न होती है। देह के एक देश में दुःख होता है इसलिए देश में दुःख है।और अहंबुद्धि भी देह विशिष्ट विषयक होने से देह में है,अतः आश्रय के द्वारा दुःख भी बुद्धि में होता है। और दुःख का भान होता है। दुःख वाली अहं बुद्धि वाली वृत्ति अंतःकरण को दुःखरूप करती है और अंतःकरण साभास जीव को दुःखी करती है और जीव साक्षी में दुःख अर्पण करता है।

शिष्य- सब जगह विषय के प्रलय की बात आती है। कारण (यानी असाधारण कारण अथवा इंद्रिय ज्ञान) का प्रलय नहीं सुनने में आता उसका कारण क्या ?

गुरु- जैसा विषय है वैसा ही करण है। विषय के ज्ञानरूप करण विषय का ही स्थानांतर है।जैसे रूप विषयक संस्थान प्रदीप है क्योंकि वह सभी रूपों का प्रकाशक है। वैसे सभी विषयों का स्वात्म विशेष प्रकाशक होने से स्थानान्तर चक्षु आदि करण हैं। उस करण से करणों के प्रथम प्रलय यत्न की जरूरत नहीं है। करण विशेष सामान्यात्मक है अतः विषय के प्रलय से करणों का प्रलय सिद्ध हो जाता है। रज्जु-सर्प का बाध होनेपर सर्प का ज्ञान नहीं रहता।विषय हमारे बाहर है ऐसा भी देह के अभिमान से प्रतीत होता है। वर्तमान सायन्स भी कहता है कि object आये तभी space उत्पन्न होता है। जैसे देह का अभिमान आये तभी अंदर बाहर जैसा

मालूम पड़ता है। यदि स्वयं देह नहीं है तो अंदर बाहर जैसा भी नहीं है। अतः दृष्टा से दृश्य भिन्न नहीं है। दृश्य प्रातिभासिक है। वह दृष्टा से भिन्न नहीं रह सकता और ज्ञानकाल में उसका बाध होता है।

शिष्य -श्रुति प्रमाण में क्या विशेषता है ?

गुरु - वह अद्वय स्वरुप का प्रतिपादन करती है। ज्ञान के द्वारा जगत का बाध करती है।ब्रह्म स्वरुप को बताकर स्वयं तद्रूप से रहती है। यद्यपि सभी प्रमाण और प्रमेय परमात्मा स्वरुप है तथापि उसकी अपेक्षा से श्रुति प्रमाण में उसकी विशेषता है कि तत्व को स्कूट * कर देती है परंतु अन्य प्रमाण ऐसा नहीं करते। अतः व्यावहारिक द्वैत से शास्त्रीय द्वैत अधिक अच्छा है।

शिष्य - परमात्मा यदि जगत का कारण हो तो उसमें अनेक प्रकार की शंकायें लोगों को उत्पन्न हो सकती है। उसका निराकरण न हो तभीतक उसमें श्रद्धा नहीं होती, अतः मैं पूछता हूँ कि :-

१. परमात्मा कौनसा फल पाने के लिए सृष्टि करते हैं ?

२. यदि उसको कोई फल प्राप्त करना हो तो वह पूर्णकाम अथवा आप्त काम नहीं कहा जा सकता अथवा आप्त काम नहीं कहा सकता।

३. यदि फल की कामना के बिना सृष्टि करे तो, फल के बिना मंदमति पुरुष भी प्रवृत्ति नहीं करता,तो ज्ञान स्वरुप परमात्मा कैसे प्रवृत्ति करेंगे।

४. यदि जबरदस्ती परमात्मा ने ऐसा किया ऐसा मानेंगे तो उसकी बुद्धिमानी में शंका होगी।

५. परमात्मा को सृष्टि बनाने में और कोई साधन है कि नहीं। यदि दूसरा कोई साधन हो तो वह एक ही है ऐसे श्रुति वाक्य का विरोध होगा। यदि उसने किसी कॉन्ट्रैक्टर को काम सौपा हो तो वह कॉन्ट्रैक्टर आया कहां से ? यदि दूसरा साधन नहीं है तो सृष्टि होगी ही नहीं। कोई भी कार्य साधन निरपेक्ष नहीं होता । और अन्य साधनों का अभाव है।

६. दयासागर परमात्मा ने सुखमय सृष्टि क्यों नहीं बनाई ? कि जिससे सभी जीव सुखी हो

७. यदि परमात्मा सर्वज्ञ है तो प्रश्न ऐसा उत्पन्न होता है कि वह सृष्टि में रहनेवाले जीवों के दुखों को जानते है कि नहीं ? यदि जानते हैं तो करुणासागर सृष्टि का उद्धार करने में विलंब क्यों करते हैं ?

८. यदि जीव के कर्म उसमें आड़े आते हैं तो क्या कर्म परमात्मा से बड़े हो गए ?

९. जीव के कर्म परमात्मा को रोके तो परमात्मा स्वतंत्र ,सत्य संकल्पत्व आदि गुणों से रहित हो जायेगा।

१०. और सृष्टि का संहार करना यह तो बहुत ही घातक कार्य है,ऐसा कार्य द्वेष के बिना नहीं बनता। परमात्मा में द्वेष की कल्पना भी कैसे हो सकती है ? दयालु की क्रीड़ा भी ऐसी नहीं होती कि जिससे अनेक जीव संसाररूपी अग्नि में पड़े ।

११. नींद में कोई जगत नहीं है फिर भी नींद के बिना नहीं चलता।

१२. स्मृति और आशा हमको छलती है फिर भी उसको छोड़ नहीं सकते।

१३. शरीर का जीवन पूरा होगा फिर भी हम नहीं मरेंगे।ऐसे बर्तते हैं।

१४. हमको संसार में सुख नहीं मिलता। फिर भी सुख की खोज करते हैं।

१५. भविष्य में क्या बनेगा उसका पता नहीं है फिर भी भविष्य के लिए लड़ते हैं।

१६. स्वार्थ गलत है ऐसा मानते हैं फिर भी मान अच्छा लगता है।

१७. हरेक मनुष्य स्वार्थी है फिर भी दूसरों को निःस्वार्थी होना चाहिए ऐसा कहते हैं।

१८. हम सत्य को पूजते हैं फिर भी उसमें दूसरों का मत मांगते हैं।

गुरु - चेतन में जगत का कारणत्व कल्पित माया का स्वीकार करके कहा जाता है,साक्षात् नहीं। गीता में भी भगवान कहते हैं कि 'मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचम' आदि भगवद् वाक्य से माया सृष्टि का कारण है। अतः जो वास्तविक सृष्टि ईश्वर से हुई मानते हैं उन्हे ऊपर के दोष के उत्तर देना चाहिए। अद्वैत मत में तो सृष्टि मायिक है यानी मिथ्या है अतः उक्त दोषों का अभाव अनायास हो जाता है। जब कोर्ट में किसीका केस चलता है तभी कोई कहता है कि अमुक घटना घटी है तो उसे यह बात सिद्ध करनी पड़ती है। जो व्यक्ति कहता है कि घटना घटी नहीं है उसके लिए वह कैसे नहीं घटी है ऐसा सिद्ध करने की जरूरत नहीं है। ऐसे ही जो जगत को मिथ्या मानते हैं उनके लिए जगत की उत्पत्ति सिद्ध करने की जरूरत नहीं है। जो जगत को सच्चा मानते हैं उन्होंने बताना चाहिए कि जगत कैसे उत्पन्न हुआ ?

साधारण विशेषात्मक जगत महा साधारण स्थानीय ब्रह्म से भिन्न अनुभव गोचर नहीं होता। यह निष्कर्म है,उपलब्धिरूप ब्रह्म ही संपूर्ण जगत है,उससे अतिरिक्त नहीं है,यह बात निम्नलिखित दृष्टांत से समझ में आयेगी। उपलब्ध-उपलब्धि का विषय घड़ा लंबे होठ वाला है। घड़े में होठ नहीं होता। परंतु होठ शब्द मिट्टी के अग्र भाग के तात्पर्य से युक्त। तात्पर्य यह है कि अमुक देश, अमुक काल से संबंध अस्तित्व विशिष्ट लंबे होठ वाला घड़ा है,ऐसी प्रतीति होती है लेकिन विचार करनेपर मूल में आनुपूर्वी से पूर्व पूर्व से अतिरिक्त उत्तरोत्तर कुछ है नहीं। उपलब्धि बराबर है। विषय तो कोई है नहीं। "असङगोह्ययं पुरुष" इस श्रुति के अनुसार चित्त का कोई वास्तव संबंध विषय के साथ नहीं होता। स्वयं प्रकाश आत्मा में विषय का अध्यास होने से विषय का स्फुरण होता है इससे विषय की कल्पना होती है। अतः अस्ति अथवा है। इन दोनों में उपलब्धि मात्र है यानी दिखावा मात्र है अत: चैतन्य अथवा विषय उपलब्धि से भिन्न नहीं है। ऐसा ही देश और काल के विषय में समझना चाहिए। उसका भी ज्ञान के ग्रहण के बिना ग्रहण नहीं होता इसलिए चिद् अतिरिक्त चैत्य का सर्वथा अभाव समझना चाहिए। शुक्ति में रजत नहीं है लेकिन शुक्ति के अज्ञान से अध्यस्त रजत का शुक्ति में भान होता है। ज्ञान मात्र से वस्तु की सिद्धि नहीं होती ; अन्यथा शुक्ति-रजत आदि की सत्ता भी सिद्ध हो जाय। जगत का अबाधित भान भी नहीं होता। अतः जगत का तात्विक स्वरुप आत्मा ही है।

शिष्य- भेद का कारण क्या है ?

गुरु - जो पुरुष ब्राह्मण,क्षत्रिय, आदि को चैतन्य से अतिरिक्त मानता है,उस मोक्ष से बहिर्मुख पुरुष को वह जाति कैवल्य से निराकरण करता है,क्योंकि वह अधिकारी नहीं है। उसका अपराध ऐसा है कि जो जाति आत्मा में नहीं है उस जाति को आत्मा में देखता है। और जो आत्मत्व है उसको नहीं देखता। वस्तुतः परमात्मा ही ब्राह्मण आदि जातियां है फिर भी अज्ञानी मनुष्य उससे व्यतिरिक्त जाति को मानता है।

शिष्य- लेकिन एक के ज्ञान से सर्व का ज्ञान कैसे हो ? घट के ज्ञान से पट का ज्ञान नहीं हो सकता।

गुरु- सभी का ज्ञान हो सकता है। कल्पित पदार्थ अधिष्ठान से भिन्न नहीं होता,अतः कल्पित का तत्व अधिष्ठान ही है। सभी का अधिष्ठान ब्रह्म में ही है,उसमें संपूर्ण जगत कल्पित है। ब्रह्म का ज्ञान होनेपर संपूर्ण कल्पित जगत तत्त्वतः ज्ञान हो जाता है,अनात्म पदार्थ वस्तुतः आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न होता है,वह अज्ञान दूर होनेपर अन्य आदि का प्रश्न ही नहीं रहता। आत्मा अद्वितीय है और द्वैत अविद्यावाला है। केवल आत्मा में अनुत्पन्न ज्ञान नहीं है और अध्यस्त अज्ञान भी नहीं है।

अध्यस्त विषय भिन्न होनेपर भी संवित् एक है। भेद प्रत्यय औपाधिक है;अतः अज्ञान के भेद भी औपाधिक हैं। वृत्तिरूप ज्ञान के भेद से ऐसा कहा जाता है कि जितने वृत्तिज्ञान हैं उतने अज्ञान हैं लेकिन उसका मूल तात्पर्य अज्ञान के भेद में नहीं है किन्तु अज्ञान की शक्ति के भेद में है। अज्ञान में अनेक शक्तियां है।

शिष्य - योगी का ज्ञान कैसा है ?

गुरु- अतिशय सहकृत्त योगी प्रत्यक्ष के ज्ञान की सीमा भी प्रत्यक्ष तक ही है।अतः ऐसे पदार्थ दूर होनेपर भी योगीजन उसको देखने का प्रयास करते हैं,लेकिन अतीन्द्रिय ब्रह्मतत्व आदि में उसके प्रत्यक्ष का प्रसार नहीं हो सकता। एकात्मपना अतीन्द्रिय है अतः वह योगी प्रत्यक्ष का अविषय है।अतः उसे उसका ज्ञान वाक्य से ही होता है,दूसरा कोई उपाय नहीं है। एकात्मा सिद्ध अर्थ है।उसमें क्रिया अथवा विधि की जरूरत नहीं है।ब्रह्म की उपासना दो प्रकार से होती है। एक सगुण उपासना और दूसरी निर्गुण उपासना। सगुण उपासना में जैसी जैसी भावना हो उस उस लोक के उपभोग के लिए उपासना से उपचित होकर उपासक का चित्त अनुवृत्त होता है। लेकिन कैवल्य मोक्ष में जन्मान्तर नहीं होता। सगुण उपासना में मूल अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। मूल अज्ञान की निवृत्ति का कारण अधिष्ठान तत्त्व साक्षात्कार है। सगुण ईश्वर जगत की भ्रांतिरुप कार्य का अधिष्ठान नहीं है।अतः उसके साक्षात्कार से अज्ञान और उसके कार्य की निवृत्ति भी नहीं होती।उल्टा द्वैत का भान रहता है।अतः जिस जिस लोक के भोग लिए जैसी जैसी उपासना हो उसके अनुसार चित्त की अनुवृत्ति रहती है। वैसे चित्त के बिना वैसा भोग नहीं मिलता। निर्गुण उपासना में ऐसी बात नहीं है। उससे तो भ्रांतिरुप जगत के अधिष्ठान के तत्त्व का साक्षात्कार होता है।अतः संपूर्ण जगत का अज्ञान अपने कार्य सहित नष्ट होता है। ज्ञान और अज्ञान को अंधकार और प्रकाश की नाईं विरोध है। जैसे एक चंद्र में दो चंद्र की भ्रान्ति होती है वैसे अद्वितीय आत्मा में द्वैत की भ्रान्ति होती है। जब तक चंद्र एक है ऐसा वस्तुतत्व का साक्षात्कार तभीतक जैसे दो चंद्र की भ्रान्ति नहीं जाती वैसे ही एक ब्रह्म के साक्षात्कार के बिना द्वैत की भ्रान्ति दूर नहीं होती। यदि दो चंद्र की निवृत्ति नहीं हुई तो ज्ञान ही नहीं हुआ। ज्ञान वस्तु का उत्पादक नहीं है अपितु प्रकाशक है। प्रकाशरूप ज्ञान उत्पन्न होकर यदि वस्तु का प्रकाश नहीं करेगा तो पुनः पुनः आवृत्ति से भी विशेष फल नहीं मिलेगा। घट आदि के प्रकाश में बारबार दीपक जलाने की जरुरत नहीं है। प्रमाणज्ञान वस्तुतंत्र होता है।अविद्या की निवृत्ति प्रमाणजन्य ज्ञान से ही होती है। मानस क्रिया से नहीं होती। समाधी में योगीजन आत्मव्यतिरिक्त किसी पदार्थ को नहीं देखते। व्युत्थान दशा में आत्मव्यतिरिक्त को देखते हैं। ज्ञानमार्ग में व्युत्थान दशा में भी आत्म व्यतिरिक्तपदार्थ है नहीं। द्वितीय नहीं रहने से ज्ञेय और ज्ञाता का भेद समाप्त हो जाता है।

शिष्य- जनक ने संसार का त्याग नहीं किया और उनके गुरु याज्ञवल्क्य ने संसार का त्याग क्यों किया ?

गुरु - जनक कर्मी और ज्ञानी थे और याज्ञवल्क्य भी ज्ञानी थे फिर भी चित्त की अधिक विश्रांति के लिए याज्ञवल्क्य ने त्याग किया था। एक ही समय में चित्त व्युत्थित और समाहित नहीं हो सकता। जीवनमुक्ति का सुख चित्त की एकाग्रता के बिना नहीं मिलता। राज्य करने का कार्य हो तो अन्य विषयों के चिंतन के बिना वह कार्य नहीं हो सकता। इसलिये ही जनक में अन्य वृत्तियाँ अवश्य रहती होगी। उस समय जीवनमुक्ति का सुख कहाँ से मिलेगा ? राजा जनक जीवनमुक्ति का सुख नहीं चाहते थे,अतः उन्होंने कर्म का संन्यास नहीं लिया। याज्ञवल्क्य जीवनमुक्ति का सुख पसंद करते थे इसलिए उन्होंने कर्म का संन्यास लिया था। चित्त विश्रांति की पराकाष्ठा सिर्फ त्याग से ही साध्य है उसमें संदेह नहीं है। विद्वत्संन्यास निष्फल नहीं है। जो आत्मसुख का अनुभव

जीवन्मुक्त दशा में होता है। वह चित्त की एकाग्रता से होता है,विक्षेप में नहीं होता। गृहस्थाश्रम ऐसे सुख के लिए प्रतिकूल है।अतः उसका त्याग करना चाहिए। जिसका चित्त पूर्ण एकाग्र नहीं होता अथवा अशुद्ध रहता है,उसको चित्तशुद्धि के लिए भी अन्य आश्रम का ग्रहण करना जरुरी है। याज्ञवल्क्य भी जबतक घर में रहे तभीतक कैवल्य शांति को प्राप्त नहीं कर पाये थे। और घर में रहने का उनको पश्च्यात्ताप भी हुआ था।

शिष्य- अनात्म पदार्थ का भान होता है और उसकी सत्ता भी दिखती है।

गुरु - भान मात्र से पदार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं होती। ऐसा हो तो मरुभूमि में प्रतीयमान जल आदि की सिद्धि भी हो जायेगी। भान के साथ सत्व आदि धर्म से सुनिरूपित हो तो उन पदार्थों को मान सकते हैं। जैसे कि आत्मा,अनात्मपदार्थ तो मृगजल के समान सत्व आदि धर्म से दुर्निरूप है अतः सत्यता झूठी है। मुमुक्षु पुरुष "नेति नेति" आदि वाक्य से अनात्म स्वरुप सभी बाह्यार्थ की निवृत्ति करके आत्म स्वरुप में स्थिति हो जाती है। आत्मा की स्व स्वरूप अवस्था में विषय और विषय का ज्ञान प्रतिकूल है। बाहर के विषयों को ग्रहण करनेवाली इन्द्रियों के द्वारा पुरुष विषयों में जाता है अतः स्व स्वरुप से गिरता है,लेकिन उपरोक्त श्रुतिवाक्य के द्वारा विषयों के त्रैकालिक अभाव का बाध होनेपर विषयों की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। इससे सुखमय आत्मा में अनायास स्थिति हो जाती है। चित्त निरालंब नहीं रह सकता। अतः शेष आत्मा ही उसका अवलंबन रहता है। आत्मैक्य दूसरे पदार्थ की अपेक्षा वाला नहीं है। द्वैत निवृत्ति रज्जुसर्प आदि की निवृत्ति के सदृश है।अतएव ज्ञेय की समाप्ति हो जाती है।

शिष्य - यदि रज्जुसर्प की निवृत्ति के सदृश जगत की निवृत्ति मानोगे तो मोक्ष सिद्ध नहीं होगा क्योंकि सर्प की निवृत्ति होनेपर भी पुनः रज्जु में कालान्तर में सर्प का भ्रम हो जाता है। यह सभी का अनुभव है। ऐसे ही ब्रह्म में पुनः संसार की अनुवृत्ति होगी और मोक्ष सिद्ध होगा नहीं।

गुरु -जगत के अस्तित्व का मूल अज्ञान है इसलिए उसका अस्तित्व अज्ञान ही है और अज्ञान की निवृत्ति चिदात्मता है। 'सदेवसोम्येदमग्र आसित्' आदि श्रुति से ऐसा मालूम पड़ता है कि वास्तविक आत्मा एक ही है दूसरा कोई है नहीं। जैसे आकाश में चंद्र एक है दूसरा नहीं है लेकिन किसी निमित्तदोष से आकाश में दो चंद्र देखने में आते हैं। चंद्र गत एकत्व का अज्ञान ही दो चंद्र दर्श का मूल है। वैसे ही यहाँ आत्मतत्व के अज्ञान से अतिरिक्त आत्मभिन्न द्वितीय आदि वस्तु का अस्तित्व नहीं है।किन्तु तद् रूप ही है। और आत्मावगति से अतिरिक्त जगत की निवृत्ति नहीं है। अतः जब आत्मज्ञान द्वैत निवृत्ति हो जाती है तभी द्वैत के उत्पन्न होने की संभावना ही नहीं रहती। जगत की निवृत्ति होनेपर उसके मूल में रहा हुआ द्वैत रहता ही नहीं। अभावात्मक निवृत्ति अधिकरण स्वरूप मानी हुई है अतः उसके कार्यरूप द्वैत नहीं रहता।

यदि रज्जु में पुनः सर्प दिखता है तो अज्ञान का समूल उच्छेद नहीं हुआ,लेकिन अभिभव मात्र होता है। जैसे अग्नि में दाहक शक्ति है लेकिन मणि मन्त्र आदि प्रतिबंध के सद् भाव काल में उसमें अग्नि की शक्ति उस समय काम नहीं कर सकती अतः दाह नहीं होता और प्रतिबन्ध हट जानेपर पुनः दाह होता है। अथवा मूल अज्ञान एक है और तूल अज्ञान (प्रातिभासिक सत्तावाले) अनेक हैं। ब्रह्मसाक्षात्कार से मूल अज्ञान की निवृत्ति होती है; उसकी निवृत्ति होनेपर पुनः भ्रान्ति नहीं होती अथवा मूल अज्ञान की अवस्था तूल अज्ञान है। सीपी-रूपा आदि में उस उस प्रकार के भ्रम से अज्ञानावस्था विशेष होती है और उस उस अधिष्ठान के ज्ञान से उस अवस्था का नाश होता है। मूल अज्ञान का नाश ब्रह्मतत्व के साक्षात्कार से होता है,अन्य किसी कारण से नहीं होता। ब्रह्मज्ञान से जगत का त्रैकालिक निषेध होता है। आत्मा के स्वरुप अवस्थान में विषय प्रतिकूल हैं।बाहर के विषयों के ग्रहण के लिए इन्द्रियों के द्वारा पुरुष विषय ग्रहण करने को तत्पर हो जाता है अतः स्वस्वरुप से च्युत होता है। लेकिन महावाक्य के द्वारा जब विषय के त्रैकालिक अभाव का बोध होता है तभी उसके उद्देश्य से प्रवृत्ति नहीं होती। मन अपने स्वभाव से ही बाहर भागता है। चित्त निरालंब

नहीं रहता। जब जगत का त्रैकालिक निषेध होता है तभी चित्त का अवलंबन आत्मा ही रहता है अतःनिरतिशय आनंदस्वरूप आत्मा में ही हमेशा मुमुक्षु पुरुष स्थिति कर के रहता है।

शिष्य- यदि जगत रज्जु सर्प की नाईं कल्पित है,तो अधिष्ठान में उसका निषेध होनेपर अन्यत्र उसकी सत्ता नहीं रह सकती,परंतु जगत कल्पित है उसका प्रमाण क्या ?

गुरु - अनुमान प्रमाण से वह सिद्ध हो सकता है*(*आज के सापेक्षवाद वाले भी हिसाब से इस बात को अधिक स्पष्ट कर सकते हैं) जो कल्पित हो वह व्यभिचारी होता है। जिस वस्तु में जो धर्म कभी दिखे अथवा कभी नहीं दिखे वह कल्पित है। जैसे रज्जु में सर्प कभी दिखे और कभी नहीं दिखे तो तो सर्प कल्पित है ऐसा माना जायेगा। सर्प की प्रतीति के समय भी रज्जु की स्वरुप से प्रतीति होती है। अतः इन्द्रपद से उसका निर्देश होता है। "यह सर्प नहीं है लेकिन रज्जु है" ऐसे ज्ञान की दशा में भी रज्जु की प्रतीति होती है,अतः अव्यभिचारी रज्जु प्रतीति पर्मार्थतः सच्ची है। सर्प प्रतीति निषेध के समय नहीं होती। अतः सर्प प्रतीति व्यभिचारी होनेसे सर्प कल्पित माना जाता है। प्रपंच है उस समय प्रपंच के भान के समय भी ब्रह्म ही प्रतित होता है और 'नेह नानास्ति किंचन' आदि द्वैत प्रतिषेध के समय भी ब्रह्म का ही ज्ञान होता है। अतः ब्रह्म परमार्थ सत् है और जगत प्रतिषेध के समय भासता नहीं है अतः सर्प की नाई कल्पित अथवा मिथ्या है।

जगत के कारण रूप ब्रह्म से अतिरिक्त जगत का जब निषेध होता है तभी ब्रह्म में अथवा अन्यत्र जगत रह नहीं सकता ऐसा मानने में ऐसा विकल्प होता है कि,अन्यत्र स्थिति हो तो भेद से होती है या अभेद से ? प्रथम पक्ष में व्याघात होता है।

यदि जगत से भिन्न जगत का प्रतिषेध होनेपर उस रूप से उसकी स्थिति मानी जाय तो प्रतिषेध ही व्यर्थ हो जायेगा। और अप्रमाणिक होगा। द्वितीय पक्ष में ब्रह्म ही केवल अवशिष्ट रहता है,जगत नहीं रहता। यहां अज्ञातसत्ता जैसा कुछ नहीं रहता ।

प्रकरण-३

कल्पित भेद

शिष्य- जैसे पट में घट नहीं है ऐसा कहने में पट में घट का निषेध माना जाता है, दूसरे स्थानपर घट का निषेध नहीं माना जाता लेकिन दूसरे स्थानपर घट हो सकता है,ऐसा न हो तो घट है ही नहीं ऐसा कहना चाहिए,और पट में घट नहीं है ऐसे विशेष रूप से घट आदि पद का उपादान भी व्यर्थ हो जायेगा,वैसे ही "नेह नानास्ति किंचन" आदि श्रुति के द्वारा ब्रह्म में जगत का निषेध किया हुआ है इसलिये ब्रह्म में भले ही जगत को न माने किन्तु दूसरे स्थानपर जगत नहीं है उसका क्या प्रमाण है ? और यदि दूसरे स्थान पर जगत रहे तो अद्वैत ब्रह्म ही सिद्ध नहीं होगा।

गुरु- यह दृष्टांत ठीक नहीं है,घट और पट में परस्पर कार्य कारण भाव नहीं है और अध्यास अधिष्ठान भाव भी नहीं है,अतः घट आदि की अनिषिद्ध-अधिकरण में स्थिति हो सकती है। ब्रह्म और जगत के बीच रूप और घट आदि की नाईं कार्य कारणभाव है और सीपी-रूपा की नाईं अध्यास अधिष्ठान भाव भी है। घट का रूप घट को छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकता अतः जहां घट का निषेध होता है वहां रूप का भी निषेध होता है।ऐसा संभव नहीं हो सकता कि घट न हो और घटिय रूप हो ।कार्यकारण व्यभिचारी नहीं हो सकते अथवा हो तो कार्यकारण भाव ही नहीं बनता। सिद्धांत में जगत का कारण ब्रह्म है। अतः ब्रह्म से अतिरिक्त स्थान में जगत की स्थिति की संभावना नहीं है। जहां संभव है वहां निषेध होता है अतः तुम्हारी शंका निर्मूल है।

और घट रूप का कार्य कारणभाव है कार्य कारण भाव अत्यंत भेद हो तो बन नहीं सकता। जैसे घोडा और गाय दोनों परस्पर भिन्न है,तो उसमें कार्य कारणभाव नहीं बन सकता वैसे ही अत्यंत अभेद में भी आत्माश्रय आदि दोष के कारण कार्य कारणभाव नहीं बनता अतः घट का कारण घट नहीं बन सकता।

वस्तुतः कारण से अतिरिक्त कार्य नहीं है। कारण की एक अवस्था ही कार्य है। अतः "मिट्टीवाला घड़ा" ऐसे समानाधिकरण से प्रतीति होती है। अतः वेदांत में कार्य और कारण का मीमांसक आदि के मतानुसार तादात्म्य संबंध माना हुआ है। ऐसा संबंध भेदाभेद में माना जाता है। यानी कल्पित भेदयुक्त अभेद माना जाता है। अतः 'सदैव सोम्येदमग्र आसीत' आदि श्रुति के अनुसार जगत और ब्रह्म का समानाधिकरण स्पष्ट होने से रज्जु में सर्प की भांति ब्रह्म में प्रतीयमान जगत का "नेह नानास्ति किंचन" आदि श्रुति से जब निषेध होता है तभी उसमें अथवा अन्यत्र कहीं जगत की सत्ता की संभावना नहीं रहती।

सर्व प्रत्यय वेद्य ब्रह्मस्वरूप स्वयं व्यवस्थित है। उसके साधन और ज्ञापन के लिए वेदांत की जरूरत नहीं है,लेकिन प्रपंच के विलय की आवश्यकता है। अतः वेदांत शास्त्र प्रपंच के विलय के लिए है, अन्य अर्थ के लिए नहीं है। यहाँ भाव ऐसा है कि घट आदि शब्द से घटावच्छिन्न चैतन्य का बोध होता है।अतः घट आदि शब्द भी घट उपाधि के द्वारा ब्रह्म के वाचक है। अतः "यह घड़ा है।" आदि प्रत्यक्ष ज्ञान भी शुद्ध घट का विषय का नहीं है। परंतु घट-उपहित-ब्रह्म विषयक है। अधिष्ठान के भान के बिना सिर्फ अध्यस्त का भान कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता अतः सभी घट आदि विषय का ज्ञान घट आदि उपहित ब्रह्म विषयक मानने में आता है। विशिष्टाद्वैत मत में भी घटादि शब्द अचित्-विशिष्ट-चित् विषयक मानने में आता है। अतः उनके मतमें ज्ञान सिर्फ विशेष्य विधि से ब्रह्म विषयक माना जाता है। सिर्फ अंतर इतना ही है कि जिसको विशिष्टाद्वैत में विशेषण कहते हैं,उसीको वेदांत में उपाधि कहते हैं। उपाधि अन्य दशा में निकल जाती है,विशेषण नहीं निकलता। विशिष्टाद्वैत सिद्धांत वालों को सिर्फ एक ही प्रश्न करना चाहिए कि "तुम्हे कभी स्वप्न आता है कि नहीं और यदि आता है तो तुम्हारा जाग्रत का विशेषण कहां जाता है ?" इस प्रश्न का उत्तर देना उनके लिए मुश्किल हो जाता है।

शिष्य - जगत की निवृत्ति के बिना मोक्ष मिल सकता है कि नहीं ?

गुरु- जगत का कारण अज्ञान है अथवा जगत ही अज्ञान है। जो अज्ञान कार्य और कारण की अपेक्षा रखता है वह वास्तविक आत्मा में नहीं रह सकता लेकिन आकाश में नीले रंग की नाईं कल्पित है।

शिष्य - आकाश के रंग की नाईं जगत अज्ञानजन्य है अतएव निषेध्य है, ऐसा ठीक है, लेकिन जगत के निषेध के द्वारा आत्मा का प्रतिपादन नहीं हो सकता। रंग के निषेध से आकाश का प्रतिपादन होता है ?

गुरु- आकाश तो विषय है इसलिए विधि के द्वारा उसका प्रतिपादन होता है। आत्मा शब्द आदि का अविषय कूटस्थ और अद्वितीय है।अतः उसका विधिमुख से प्रतिपादन नहीं होता परंतु निषेधमुख के द्वारा ही उसका प्रतिपादन होता है। आकाश विधिगोचर है इसलिए उसका निषेध के द्वारा प्रतिपादन नहीं होता ऐसा कहना उचित है लेकिन आत्मा तो शब्द आदि से रहित है अतः अन्य प्रमाण का अविषय है आगम यानी शास्त्र भी आत्मा का प्रतिपादन नहीं कर पाया। अतः प्रतिषेध को ही प्रतिपादन का द्वार मान सकते है।

शिष्य -प्रपंच का कारण क्या है ?

गुरु - वस्तुतः प्रपंच हो उसका कारण कुछ हो सकता है लेकिन प्रपंच ही यदि अविद्या से आत्मा में आरोपित प्रतीत होता है तो "यक्षानुरूपी बली" के न्याय से कारणत्व भी उसमें आरोपित है। अज्ञात स्वरुप कारण के व्यवहार में हेतु है और मिथ्याज्ञान रुपत्व कार्यत्व के व्यवहार में हेतु है।

शिष्य- रूप और रूपी(ब्रह्म) में भेद मानते हो कि नहीं ? यदि भेद मानते हो तो अद्वैत की हानि होगी और भेद नहीं मानते हो तो विशेष्य विशेषण भाव नहीं बनेगा ?

गुरु - कल्पित सर्प का अज्ञात रज्जुरूप अधिष्ठान के साथ वास्तविक भेद अथवा अभेद नहीं है क्योंकि कल्पित पदार्थ अकल्पित धर्मी का धर्म ही नहीं हो सकता।एवम् सिद्धांत में कल्पित जगत आदि वस्तु ही नहीं है। अतः उसके साथ वास्तविक भेदाभेद का विचार ही व्यर्थ है। ब्रह्मभेद के निरास से सिर्फ ब्रह्म ही है कल्पित पदार्थ अधिष्ठान का परिच्छेदक नहीं होता और कल्पित की निवृत्ति अधिष्ठान रूप होती है।

शिष्य- वेद के कर्मकांड में वाक्य यदि स्वार्थ की प्रमाजनक मानने में आये तो उसका अर्थ प्रमाणिक होने से अबाध्य सत्ता वाला होगा। ऐसी दशा में द्वैत ही सच्चा सिद्ध होगा फिर उपनिषद अद्वैत में प्रमाण रहेगा नहीं।

गुरु- द्वैत की पारमार्थिक सत्ता कर्मकांड का विषय नहीं है। लेकिन साध्य साधन संबंध ही उसका विषय है। जो श्रुति स्वर्ग के लिए यज्ञ करने को कहती है वह स्वर्ग का उपाय अग्निहोत्र है ऐसा कहती है। वह कर्म और उसका फल परमार्थ सत् है ऐसा नहीं कहती। मात्र उपाय बताने में कर्म श्रुति का तात्पर्य है।और वह कामना मिथ्याज्ञान के निमित्तवाली होती है अतएव जैसे कार्य वैसे साधन बताती है। अविद्वान पुरुष उन उन कर्मों में प्रवृत्त होता है।अविद्या से उन कर्मों में और उनके फल में पारमार्थिकत्व का अभिनिवेश होता है। फिर भी सभी मनुष्य वैसे कर्म नहीं करते। अतः शास्त्र ज्ञापक हैं, कारक नहीं है। जबतक पुरुष को इष्ट साधनता का ज्ञान नहीं होगा तभीतक हजारों वचनों से भी पुरुष की प्रवृत्ति उस कर्म में नहीं होती। जिसको इष्ट साधनता का ज्ञान होता है वह उस कर्म में प्रवृत्त होता है। अर्थात् कर्मकांड की श्रुति कामना के अनुसार कामी को सिर्फ फल साधन का बोध करती है। साधन सत्य है वैसा बोध नहीं करती।

अद्वैत श्रुति तो विरक्त को ब्रह्म में सत्यत्व मात्र का बोध करती है। स्वर्गादि फल के साधनों में असाधनत्व का बोध कराती नहीं अतः दोनों कांड में अर्थात् कर्मकांड और ज्ञानकांड में विरोध नहीं है।दोनों जिसको जो चाहिये उसको उसका मार्ग बताते हैं। उपनिषदें तो कोई यज्ञ आदि क्रियाओं का विधान नहीं करती और किसी क्रिया का निषेध भी नहीं करती यानी उपनिषद अन्यान्य क्रिया से सर्वथा निरपेक्ष होकर सिर्फ प्रत्यक् तत्व के बोध मात्र में अपना व्यवहार रखती है और उसीमें कृतकृत्य होती है।

शिष्य- वेदांत में मुख्य तात्पर्य क्या है ?

गुरु - वेदांत में मुख्यतः एक जीववाद माना हुआ है। यानी चेतन में अथवा ज्ञानदशा में भेद नहीं है और दूसरा कल्पित होने से व्यवहार दशा में सच्चा जैसा रहता है और ब्रह्मदशा में बाधित होता है। उसमें निम्नलिखित कुछ प्रक्रियायें है :-

१. अज्ञानरूप उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य ईश्वर है।

२. अज्ञान उपहित चेतन्य जीव है।

३. जीव अपने अज्ञान के द्वारा जगत का उपादान कारण है और निमित्त कारण है।

४.   देह के भेद से जीव के भेद की भ्रान्ति होती है।

५.   अज्ञात प्रातिभासिक की कल्पित सत्ता नहीं है।

६.   ज्ञात प्रातिभासिक की कल्पित सत्ता है।

७.   इस मत में माया और अविद्या एक होने से अविद्या एक है अतः जीव भी एक है।

८. सुख दुःख की जो उपलब्धि होती है वह अंतःकारण के भेद से होती है। क्योंकि कर्तुत्व भोक्तृत्व की उपाधि अंतःकरण है और अंतःकरण अनेक है। अतः एक जीववाद में सभी शरीरों में क्रिया साम्य और भोग नहीं होता।

९.   जगत की रचना ईश्वर नहीं करते क्योंकि जगत प्रातिभासिक है।स्वप्न के हाथी,रथ आदि की भाँति जीव की आश्रित अविद्या जगत की कल्पना करती है।

१०.   अविद्या का स्वगत चिदाभास से तादात्म्य है अतएव समस्त कार्य आभास के द्वारा चेतन से अनुगत है।

११.   कर्तृत्व आदि सभी धर्मो से विशिष्ट अंतःकरण का आत्मा में अध्यास होने से (स्वप्न की नाई) व्यावहारिक और प्रातिभासिक भेद का पता नहीं चलता। जब ज्ञान से अध्यास दूर होता है तभी (स्वप्न से जगने की भाँति) अंतःकरण और उसके धर्मों का बाध होता है,अथवा जीवन्मुक्त दशा में उसकी प्रतीति मात्र रहती है।

धर्म विशिष्ट अंतःकरण का आत्मा में अध्यास होता है।जैसे कभी लाल रंग के फूल के पास शुद्ध सफ़ेद स्फटिक हो तभी किसी आवरण से लाल फूल न दिखे तो स्फटिक लाल है ऐसी बुद्धि हो जाती है,ऐसे ही जिस अवस्था में अंतःकरण में पृथक् दर्शन नहीं हो सकता उस अवस्था में अंतःकरण का और उसके धर्मों की आत्मा में प्रतीति होती है और व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ता के भेद का पता नहीं चलता। स्वप्न में स्वपनजगत से स्वप्न साक्षी अलग देख नहीं सकता। और जाग्रत में भी अनेक मनुष्य जाग्रत जगत से जाग्रत साक्षी को अलग नहीं कर सकते। अतः स्वप्नमें और जाग्रत में व्यावहारिक सत्ता और प्रातिभासिक सत्ता का भेद नहीं जाना जाता लेकिन कोई मनुष्य को पुण्यवश शुद्ध बुद्धि प्राप्त हुई हो अथवा गुरु के द्वारा शास्त्रों का ठीक से अभ्यास किया हो तो जाग्रत में जाग्रत साक्षी और जाग्रत जगत को कल्पित मान सकते है। क्योंकि जाग्रत स्वप्न में चला जाता है और स्वप्न जाग्रत में चला जाता है।

जो मनुष्य आत्मा को साक्षी के रूप में देख नहीं सकते वे आत्मा को कर्म वाला और राग वाला मान लेते हैं।

निम्नलिखित कुछ दृष्टान्तों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

१.   गुजराती में एक कहावत है कि "पराई माँ बालक के कान छेदती है लेकिन उस बालक की माँ उस बालक के कान छेद नहीं सकती" ऐसे प्रसंग में अपनी माँ राग के कारण साक्षीभाव नहीं रख सकती।

२.   कोई डॉक्टर अन्य मरीज की दवाई ठीक से कर सकता है लेकिन उसके अपने घर में कोई बीमार हो तो वह साक्षीभाव से दवाई नहीं कर सकता और दूसरे डॉक्टर को बुलाना पड़ता है।

३.   वकील दूसरे लोगों के केस ठीक से चला सकता है।लेकिन अपने घर के केस के लिए उसको दूसरे वकील की सलाह लेनी पड़ती है।

४. इंजीनियर दूसरे के मकान साक्षीभाव से बना सकते हैं लेकिन अपना घर बनाने के लिए दूसरे इंजीनियर की सलाह लेते हैं।

५. नगरपालिका का कारकून गाँव के जन्म मृत्यु का पंजीकरण साक्षीभाव से करता है लेकिन अपने घर में कोई जन-मृत्यु हुए हों तो साक्षीभाव नहीं रख सकता और उसको हर्ष- शोक होता है।

संक्षेप में आसक्ति हो वहां साक्षीभाव नहीं रहता।

साधारण व्यवहारिक जीवन में अंतःकरण अथवा अंतःकरण की वृत्ति प्रमाण है। अंतःकरण अज्ञानी की दृष्टि में साक्षी का विशेषण है और ज्ञानी की दृष्टि में साक्षी की उपाधि है। जब किसी वस्तु का ज्ञान होता है,तभी अंतःकरण के तीन परिणाम होते हैं। एक हिस्सा देह में रहता है उसे प्रमाता कहते हैं। दुसरा हिस्सा देह विषय के मध्य में प्रतीत होता है उसे प्रमाण अथवा measure कहते हैं और तीसरा हिस्सा घट आदि पदार्थों में रहा हुआ है,उसको प्रमेय कहते हैं लेकिन ये तीनों भाग अंतःकरण के हैं। जब विषय का ज्ञान होता है तभी प्रमाता प्रमाणरूप अथवा प्रमितिरूप होता है । इसप्रकार ज्ञान काल में प्रमातृ चैतन्य और प्रमिति चैतन्य एक ही है। वास्तव में एक ही चैतन्य उपाधि भेद से भिन्न दिखता है। ब्रह्मज्ञान होता है तभी ऐसा भेद नहीं रहता क्योंकि उस समय चैतन्य एकाकार हो जाता है। ऐसी दशा में अंतःकरण के परिणाम विशेषरूप छाया ही विषयाकार हो गयी होती है। अतः प्रमिति चैतन्य विषयाकार हो जाता है तभी प्रमाता चैतन्य भी विषयाकार हो जाता है क्योंकि अंतःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ चैतन्य है और अंतःकरण उस समय विषयरूप हो जाता है। चैतन्य का भेद तो उपाधिगत है। जब दो उपाधि भिन्न दशा में हो तभी उपहित का भेद बताती है,उपाधि एक देश में हो तभी उपहित का तादात्म्य है। उपाधि की दशा में जीव भी विषय जैसा दिखता है, The self is made by the not-self.

शिष्य- कोई द्वैतवादी कहता है कि जीव और ईश्वर भिन्न है। जीव परमात्मा की भक्ति करके उसकी कृपा से ब्रह्मस्वरूप होता है। यदि "अहं ब्रह्मास्मि" की बुद्धि से उपासना करे तो जैसे कोई प्रधान मैं राजा हूँ ऐसा दावा * करे तो राजा उसको दंड देता है वैसे "अहं ब्रह्मास्मि" मानने वाले को भगवान दंडित करेंगे।

गुरु- श्रुति में कहा है कि 'तत्सुष्टया तदेवानुंप्राविशत' यानी भगवान ने स्वयं सृष्टि की रचना करके स्वयं ही सृष्टि में जीव रूप से प्रवेश किया है अतः जीव "अहं ब्रह्मास्मि" की वृत्ति धारण करे तो गलत नहीं है। घड़ा कहे कि मैं मिट्टी हूँ तो उसमें कोई अभिमान नहीं है।

शिष्य- यदि परमात्मा सभी का अंतरात्मा हो तो सभी शरीरों के संबंध से उत्पन्न होनेवाले दुःखों का अनुभव उसे होना चाहिए,और परमात्मा को उपदेश की जरूरत भी नहीं है अथवा भेदाभेद माने तो एक अंश में संसारी और दूसरे अंश में ब्रह्म है ऐसा मानना पड़ेगा।

गुरु- ऐसा विज्ञानात्मा पृथ्वी की नाईं अनेक द्रव्य समुदायात्मक सावयव परमात्मा का एक देश परिणाम है ? अथवा पूर्व संस्था में रहे हुए परमात्मा का एक देश विकार है ? अथवा दूध में से होनेवाले दही के सदृश्य सर्वात्म रूप से परमात्मा का परिणाम है ? प्रथम विकल्प में जैसे पृथ्वी के कोई अंश का परिणाम घट हो जाता है वैसे समान जातीय अनेक द्रव्य समुदाय का कोई अंश विज्ञानात्मा का स्वरुप बन जाता है ऐसा मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में ब्रह्म में वस्तुतः एकत्व रहेगा नहीं। लेकिन उसमें रहनेवाली जाति के एकत्व से एकत्व है,अथवा उपचारिक एकत्व मानने से सिद्धांत विरोध होगा। दूसरे पक्ष में सर्वदा भिन्न रूप से अवस्थित अवयवों में अनुस्यूत रूप से रहनेवाले अवयवी परमात्मा का एक देश जीवात्मा संसारी है। ऐसा मानने में सभी अवयवों में अनुस्यूत रूप से रहनेवाले अवयवी परमात्मा अपने अवयवभूत विज्ञानात्मा के गुण अथवा दोष से मुक्त नहीं हो सकेगा।अथवा जीव के गुण अथवा दोष से परमात्मा में गुण और दोष का प्रसंग आयेगा। और तीसरे विकल्प के अनुसार जैसे दूध का दही बनता है वैसे परमात्मा के संपूर्ण

भाग के परिणाम रूप जीव हो तो उसका निष्कल निष्क्रिय और शांत आदि श्रुतियों में जो वर्णन आया है वह व्यर्थ हो जायेगा। अतएव जीव का जन्म कल्पित है लेकिन उसका स्वरुप कल्पित नहीं है। उसका स्वरुप तो परमार्थ से सत् है। जगत भी कल्पित है। उसमें प्रतिक्षण उत्पत्ति स्थिति और नाश होते रहते है। ऐसी स्थिति में यदि जगत स्थिर नहीं है तो उसमें क्रम कैसे पड़ेगा। क्रम तो स्थिर वस्तुओं में होता है,क्षणिक में नहीं आता। क्षणिक पदार्थ तो सिर्फ अविद्या से प्रतीत होता है। आकाश में जैसे दिशाओं का भेद कल्पित है वैसे जगत में भी कल्पित भेद ही प्रत्यक्ष का विषय है।

शिष्य - क्षण परिणाम करनेवाला काल कहाँ से आया ?

गुरु - सूर्य की गति से क्रियात्मक काल उत्पन्न होता है। अतएव सूर्य की उत्पत्ति से पूर्व काल नहीं है। काल के बिना विश्व की उत्पत्ति कैसे होगी ? सत् जगत की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि वह सदैव सत् है। असत जगत की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती,क्योंकि वह असत है।

शिष्य- जगत का ज्ञान सभी को है ?

गुरु - सभी को जगत का ज्ञान नहीं है। ज्ञानी को जगत का ज्ञान नहीं है,वह जगत को ब्रह्मस्वरूप देखता है। और ज्ञानमात्र से वस्तु की सिद्धि नहीं होती। लेकिन अबाधित ज्ञान से वस्तु वस्तुतः सिद्ध होती है। क्रियाकारक व्यवहार भ्रम है। श्रुति में कहा है कि जब द्वैत जैसा हो तभी एक दूसरे को देखता है। जहाँ सब आत्मरूप हो जाय वहां कौन किसको देखे ? जहां जगत प्रतीत होता है वहां रहता नहीं तो अन्य किस स्थान पर रहेगा ? सत्ता के बिना अन्वय कैसे हो सकता है ?

जगत ब्रह्म में कल्पित है। कल्पना का मूल अज्ञान है। अधिष्ठान तत्व साक्षात्कार से अज्ञान और तत्कल्पित पदार्थ की निवृत्ति होने से ज्ञेय ही समाप्त हो जाता है। सीपी के तत्त्व का साक्षात्कार होने के बाद रूपा की सत्ता कहां रही यानी कहीं नहीं रहती। निःशेष अज्ञान का नाश होनेपर पुरुषार्थ समाप्त हो जाता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है जो मोक्ष का अधिकारी होता है उसका भी कर्म में अधिकार समाप्त हो जाता है तो जिसको ज्ञान हुआ उसका अधिकार समाप्त होता है उसमें शंका नहीं है।

शिष्य- देह का अभिमान कैसे होता है ?

गुरु - देह का अभिमान कर्मकृत है और कर्म अभिमान कृत है। जगत के सभी व्यवहार का आधार अहंकार पर है लेकिन अहंकार सच्ची वस्तु नहीं है। अहंकार नींद के समय चला जाता है। स्वप्न में नया बनता है और जाग्रत में भी नया पैदा होता है। अहंकार दूर कर सकें तो ब्रह्मदशा आने में देर नहीं लगेगा। उस दशा में अनेक जीव नहीं रह सकते। मैं का बहुवचन नहीं हो सकता। मैं का बहुवचन करना हो तो मैं के साथ तुं और वह लेना पड़ेगा। अतः मैं एक है लेकिन झूठा मैं दूसरे मैं को तू कहता है।

जिनको कल्पित भेद में तात्विकत्व की भ्रान्ति होती है उनको निषेध की जरूरत है साधारण में विशेष कल्पित है अनात्म जगत से विरक्त हुए बिना मैं ब्रह्म हूँ ऐसी बुद्धि से उपासना नहीं हो सकती। बाहर और आत्मा में एकसाथ प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसलिए प्रत्यागतमा में प्रवृत्ति के लिए बाहर के विषयों से वैराग्य की जरूरत है। द्वैत की निवृत्ति के बिना आत्मा में एकत्व नहीं बन सकता। द्वैत की निवृत्ति द्वैतत्व के मिथ्यात्व के बिना नहीं हो सकती और मिथ्याज्ञान अज्ञान के बिना नहीं हो सकता। अतः आत्मा से व्यतिरिक्त सकल द्वैत की निवृत्ति का हेतुभूत तत्व विद्या की प्रतिपति के लिए वेदांत शास्त्र है।

शिष्य- दुःख का कारण क्या है ?

गुरु - परिच्छिन्न का अभिमान दुःख का हेतु है। सर्वात्मता दुःख का हेतु नहीं है। विद्वान को परिछिन्न का अभिमान नहीं है। और जिसको जिस कर्म से जो शरीर इन्द्रिय आदि मिलते हैं उसको उस शरीर और उन इन्द्रियों से दुःख होता है,दूसरे को नहीं। हरेक जीव स्वकल्पित पदार्थ ही देखता है। किसी का मित्र मर गया तो उसको मित्र की मृत्यु से दुःख होता है। ज्ञानी को परिच्छिन्न अभिमान नहीं है। इसलिए उसको किसीकी मृत्यु का दुःख नहीं होता। उसकी दृष्टि में सभी जीवित हैं। अपनी कल्पना के अनुसार अपना फल है। स्वप्न में जैसी जिसकी शुभ अशुभ की कल्पना होती है वैसा उसके स्वप्न के सुख दुःख का फल मिलता है।

स्व स्व कल्पना के अनुसार पदार्थों का ज्ञान होता है और उसप्रकार लेने देने की, रखने की या छोड़ने की कल्पना होती है।

शिष्य- सभी विराट की उपासना करे तो उसके अनुसार सभी को फल मिले तो अनेक लोग विराट हो जाय।

गुरु- दो मनुष्य एक रज्जु में सर्प की कल्पना करे तो वहां दो सर्प नहीं हो जाते। हरेक व्यक्ति स्व स्वकल्पित रज्जुसर्प को ही देखते हैं। दूसरे के कल्पे हुए रज्जुसर्प को नहीं देखता,वैसे ही हरेक पुरुष का कल्पा हुआ विराट स्वरुप अनेक पुरुषों के द्वारा दृश्य नहीं होता। किन्तु स्व कल्पित ही स्व दृश्य होता है। स्व स्व स्वप्न में कल्पित राजा स्व स्व प्रतीति का गोचर होता है । अतः अनेक स्वप्न में कल्पित राजा प्रत्येक के प्रति अनेक नहीं होते,किन्तु स्व स्व के प्रति असाधारण रहते हैं। वैसे ही विराट की उपासना के विषय में समझना है स्वप्नावस्था में जीव अपने स्वामी की कल्पना करके अपना स्वामी देखता है। उस समय ऐसा ज्ञान नहीं होता कि यह मेरे कल्पित स्वामी है इसलिए वह स्वयं उसका दास बनता है और उसके अनुग्रह और निग्रह से अपने को वस्तुतः अनुग्रहीत और निगृहित मानता है ऐसे ही विराट की भी संसार दशा में ईश्वररूप से कल्पना जीव करता है। भेद ज्ञान के बिना कर्म अथवा उपासना नहीं हो सकती। जीव की तीनों अवस्था यानी जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति भोग के लिए हैं,भोग का मूल अदृष्ट है। स्वप्न के सुखादि का कारण भी अदृष्ट है। अदृष्ट के भेद से अच्छा स्वप्न और बुरा स्वप्न आता है।

कुछ कर्म साधारण होते हैं जैसे कि नाटक आदि, उनको अनेक मनुष्य एक समय में देख सकते हैं। कुछ कर्म असाधारण होते हैं जैसे कि पुत्र को देखकर सुख होता है वह सिर्फ एक ही को होता है। शरीर मैं हूँ ऐसा ज्ञान हो तभी शरीर के अनुकूल विषय आत्मा को अनुकूल है ऐसा माना जाता है और वैसी ही प्रवृत्ति होती है,लेकिन आत्मा मैं हूँ ऐसा लगे तो आत्मा को सुख देने की जरूरत नहीं है।आत्मा दुःखी नहीं होता। आत्मा सदा आनंदरूप है। स्वभाव से विपरीत धर्म की उत्पत्ति सेंकडो हेतुओं से भी नहीं होती। जैसे कोई आकाश में से घड़ा नहीं बना सकता,वैसे आत्मा में से दुःख नहीं आता।

शिष्य- कर्म का कर्ता कौन है ?

गुरु - अध्यास विशिष्ट ज्ञान ही कर्म का अंग बनता है। परब्रह्मात्म वेद न तो अध्यास का निवर्तक है और न ही उपकारक है। अतः कर्तृत्व आदि आत्मा में कल्पित हैं सत्य नहीं है। अतः ज्ञान से वह निवृत्ति होती है। संसार दशा में जो आत्मा है उसमें समवाय संबंध से अदृष्ट है और कर्तापने आदि की शक्ति है। इससे संसार का अनुभव होता है। मोक्षदशा में भी आत्मा है और साथ में धर्म आदि हो और कर्तापन हो तो वहां भी संसार का अनुभव होगा,अथवा कर्तापन रहे तभीतक मुक्ति की आशा ही व्यर्थ है। कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि सर्वात्म यथार्थ अज्ञान हेतुक है।अतः आत्म यथार्थ ज्ञान होनेपर स्वप्न के द्रष्ट के समान सभी निवृत्त हो जाता है। श्रुति स्मृति में भी कहा है कि :-

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् द्रष्टे परावरे । (उपदेश)

ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि भस्म सात् कुरुतेऽर्जुन ॥ (गीता)

द्वैत का अभाव होने से साध्य-साधन भाव ही नहीं रहता तो कर्म का अंग कैसे रह सकता है ?

असंग आत्मा में अनात्म वस्तु का संबंध स्वाभाविक नहीं हो सकता इसलिए अविद्या वाला कहा जाता है। व्यापक आत्मा में क्रिया नहीं रहती ऐसा जो अपने को मानता है वह कैसे कर्म कर सकेगा। अप्राप्त वस्तु में क्रियाकारक भाव की अपेक्षा रहती है। नित्य प्राप्त में नहीं होती। यदि कर्तृत्व आदि आत्मा के स्वभाव में हो तो उसकी निवृत्ति जब नींद में अथवा मोक्ष में होती है तभी आत्मा की निवृत्ति भी हो जानी चाहिए,तो फिर मोक्ष किसका होगा ?

शिष्य-प्रमाण का विषय क्या है ?

गुरु -प्रमाण बाहर जाता है, इसलिए प्रमाण का विषय साक्षी नहीं हो सकता अंतःकरण की वृत्ति प्रमाण है,चिदात्मा स्वयं प्रकाश है। वह किसीकी अपेक्षा नहीं करता ,पराक् विषयक प्रमाण प्रत्यग्विषयक नहीं होता। पराक् अनात्मा है और प्रत्यक् आत्मा है। इच्छा आदि आत्मा से उत्पन्न नहीं होते किन्तु अज्ञान से उत्पन्न होते है। वृत्ति की उत्पत्ति और नाश से वृत्ति अवच्छिन्न चैतन्य में भी उत्पत्ति और नाश की प्रतीति होती है। वस्तुतः ज्ञान नित्य है। उसमें उत्पत्ति और नाश की प्रतीति औपाधिक है। वेदांत का विषय निरूपधिक ब्रह्म है। उपाधि विशिष्ठ ब्रह्म प्रत्यक्ष ब्रह्म आदि प्रमाण का विषय है। आत्मज्ञान होने से पहले विषय का बाध नहीं होता अतएव सभी प्रमाणों की प्रमाणता है। ज्ञान के बाद विधि आदि प्रमाण नहीं है। ज्ञानी व्यवहार करता है लेकिन प्रत्यक्ष आदि वास्तविक प्रमाण है ऐसा मानकर व्यवहार नहीं करते। किन्तु पूर्व वासना की अनुवृत्ति से व्यवहार करते हैं। अज्ञान का नाश होनेपर ही कर्म के हेतुरूप वर्ण,आश्रम और शरीर आदि के अभिमान का नाश होता है इसलिए विद्वान को कर्म का अधिकार नहीं रहता। कर्ता आदि कारक व्यवहार रहता है तो आत्म जिज्ञासा ही नहीं होती और होगी तो शुद्ध वस्तु का दर्शन करने में समर्थ नहीं होती। यदि भेद को वास्तविक माने तो ज्ञान वस्तुतंत्र होने से भेद बुद्धि प्रमाण होगी और भेद प्रमाण होनेपर अभेद बुद्धि उत्पन्न नहीं हो सकेगी। द्वैत प्रपंच तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से मालूम पड़ता है। यही बात यदि शास्त्र बताएं तो ज्ञात ज्ञापन परक होने से प्रमाण नहीं होगा,अतः द्वैत कल्पित है।

प्रकरण : ४

अविद्या

शिष्य - अविद्या किस के अंदर है ? ब्रह्म में है कि जीव में ? या स्वतंत्र है ? प्रथम पक्ष में ज्ञान स्वभाव सर्वज्ञ ब्रह्म में उससे विपरीत स्वभाव अज्ञान सूर्य में अंधकार की नाईं कैसे रह सकेगा ? दूसरे पक्ष में अविद्या के बिना जीवभाव ही नहीं बन सकता,क्योंकि अविद्योपाधिक ही जीव है। अविद्या हो तो जीव भाव आयेगा और जीवभाव से अविद्या आयेगी। इसतरह अन्योन्याश्रय दोष से जीव में भी अविद्या नहीं रह सकती। और यदि ब्रह्म में अविद्या नहीं माने तो जीव में अविद्या है ऐसा भी कहना नहीं बनता। क्योंकि जीव तो ब्रह्म से अभिन्न है ब्रह्म से भिन्न नहीं है ऐसी अवस्था में ब्रह्म में अविद्या नहीं है ऐसा मानने में ब्रह्म से अभिन्न जीव में अविद्या है ऐसा कैसे कह सकेंगे ? तीसरे पक्ष में ब्रह्म की नाईं अविद्या स्वतंत्र होने से ज्ञान निवर्त्य नहीं होगी। ज्ञान स्वतंत्र पदार्थ का नाशक नहीं है इससे विद्या ही निरर्थक हो जायेगी।

गुरु - अविद्या स्वतंत्र नहीं है,जीव के आश्रित भी नहीं है अपितु ब्रह्म के आश्रित है। उसमें किसीको प्रश्न उठे कि ज्ञान स्वभाव वाले ब्रह्म में उससे विपरीत अविद्या का कैसे संभव होगा ? तो ऐसी शंका ठीक नहीं है क्योंकि अविद्या संबंध ब्रह्म में तात्त्विक मानेंगे तो विरोध होगा क्योंकि विरुद्ध दो धर्म एक धर्मी में नहीं रह सकते। यदि एक को तात्विक माना जाय और दूसरे को अतात्विक माने तो

कुछ विरुद्ध नहीं है। तात्विक अन्धकार की स्थिति सूर्य में नहीं रह सकती लेकिन कल्पित अन्धकार की स्थिति सूर्य में विरुद्ध नहीं है। उल्लू सूर्य में अन्धकार कि कल्पना करता है। सूर्य का वास्तविक प्रकाश स्वरुप है उसमें उल्लू का कल्पित अंधकार रहे उसमें विरोध नहीं है,ऐसे ही स्वयं प्रकाश ब्रह्म में कल्पित अविद्या की स्थिति विरुद्ध नहीं है। और अविवेक से ब्रह्म में अविद्या की प्रतीति होती है विवेक करनेपर वास्तविक अविद्या शून्य ब्रह्म सिद्ध होता है। अविद्या प्रमाणजन्य नहीं है। अविद्या प्रमाण का विषय नहीं है। लेकिन साक्षी वैद्य है। अविद्या में रहकर यानी अविद्वान होकर ब्रह्म की अविद्या की (ब्रह्म अविद्या के संबंध की) कल्पना होती है। ब्रह्म दृष्टि से तो अविद्या का संबंध किसी तरह ब्रह्म में नहीं हो सकता। अज्ञान का विरोध प्रमाणजन्य ज्ञान के साथ है। साक्षिज्ञान प्रमाणजन्य नहीं है। भ्रम प्रमाण साधारण साक्षी-चैतन्यात्मक अनुभव का विषय अज्ञान होता है।

अविचार के साथ अविद्या का भान होता है अतएव अविद्या के निरूपण में अविद्वान और विद्वान दोनों असमर्थ हैं। ब्रह्म में अविद्या और उसका संबंध विद्वान जानता है कि अविद्वान ? इस प्रश्न का उत्तर खोजने जायेंगे तो दोनों नहीं जानते क्योंकि ब्रह्मज्ञान के बिना ब्रह्म में अविद्या और उसके संबंध का ज्ञान कैसे होगा ? आश्रय के ज्ञान के बिना आश्रित का ज्ञान नहीं होता। संबंध दो संबधियों के ज्ञान के आधीन है। अतः वह नित्य सापेक्ष है। पुरुष के ज्ञान के बिना पुरुषमें दंड और उसके संयोगरूप संबंध ये दोनों नहीं जान सकते। दूसरे पक्ष में यानी विद्वान की दशा को ध्यान में लेंगे तो श्रुति कहती है कि जहां सबकुछ आत्मरूप हुआ है वहां कौन किसको देखेगा ? अर्थात् आत्मज्ञान होनेपर संपूर्ण द्वैत की निवृत्ति हो जाती है। सिर्फ चिदात्मा ही अवशिष्ट रहता है,तो प्रमातृ,प्रमाण और प्रमेय आदि भेद सापेक्ष प्रमाणजन्य ज्ञान कैसे हो सकेगा ? अतएव विद्वान् भी अविद्या का निरूपण नहीं कर सकते जैसे प्रगाढ़ निंद्रा वाला अथवा जाग्रत अवस्था वाला कोई भी पुरुष स्वप्न का साक्षात्कार नहीं कर सकता । वैसे अविद्वान और विद्वान कोई भी अविद्या के कल्पित तत्व का साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं हो सकता। जब "तत्वमसि" आदि वाक्य जन्य जीव-ब्रह्म-अभेद विषयक समी* ज्ञान होता है तभी ऐसा लगता है कि अविद्या थी नहीं,है नहीं और रहेगी नहीं। ऐसे अविद्या का त्रैकालिक निषेध होता है। जब कि अविद्या की दशा में अविद्या का त्रैकालिक निषेध बन नहीं सकता। क्योंकि उसकी किसी समय अपरोक्ष प्रतीति होती है तो भी पारमार्थिक आकार से अविद्या का त्रैकालिक निषेध प्रसिद्ध है। अविद्या अपने समय में वास्तविक रूप से रह नहीं सकती,इसलिए अनिर्वचनीय कहलाती है,सत्य अथवा असत्य रूप से जिसका निर्वचन नहीं हो सके उसे अनिर्वचनीय कहते हैं। संक्षेप में अविद्या का स्वभाव निम्नलिखित है :-

१. जो है झूठी ।

२. फिर भी सच्ची जैसी दिखती है।

३. उससे व्यवहार होता है।

४. अन्य दशा में बाधित होती है।

५. और बाधित होती है इसलिए झूठी है।

यह सिद्धांत अविद्या का कार्य जीव-जगत में भी लागू पड़ता है।

जो अवस्तु है उसका प्रमाण नहीं मिलता। सीपी में रूपा दिखता है उसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। ऐसे ही अविद्या अवस्तु है इसलिए उसमें कोई प्रमाण नहीं बन सकता। प्रमाण को सहन न करे उसका नाम अवस्तुत्व है।

ब्रह्म में अवस्था भेद से और ज्ञानभेद से अविद्या सहितत्त्व और अविद्या रहितत्त्व दोनों रहते हैं। भ्रांत पुरुष की दृष्टि से अविद्या सहितत्त्व लगता है।मुक्त पुरुष की दृष्टि से अविद्या रहितत्त्व लगता है। आत्मज्ञान होने के बाद अविद्या का ध्वंस होता है।

शिष्य- प्रत्यक्ष प्रमाण से जो दिखता है उसका क्या करोगे ?

गुरु-वेदांत प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण का बाधक है।

शिष्य - ज्ञानी को दुःख होता है कि नहीं ?

गुरु -आत्मज्ञान होने से पूर्व जैसे संपूर्ण दुखों की अनुवृत्ति चिदाभास में होती है। वैसे आत्मज्ञान होने के बाद सभी दुखों की अनुवृत्ति नहीं रहती लेकिन कोई अनुवृत्ति रहती है दुःख दो प्रकार के हैं :- (१) बुद्धि स्वभाव से उत्पन्न और (२) मोहजन्य। बुद्धि स्वभाव से हुआ दुःख कर्मजन्य होने से भोग से उसकी निवृत्ति होती है। और मोह से उत्पन्न हुआ दुःख तत्वज्ञान से निवृत्त होता है। प्रथम सुख-दुःख भोगने से भी ज्ञानी को हर्ष शोक नहीं होते। मिथ्या लाभ और मिथ्या हानि से हर्ष या शोक नहीं होते।

तत्वज्ञानी निरंतर तत्व के अनुसन्धान में तत्पर रहते हैं। यदि वे विषयांतर का अनुसन्धान करेंगे तो कभी संभव है कि भ्रान्ति वश पुनः हर्ष आदि की वासना उद् बुद्ध हो और हर्ष आदि हो ज्ञानी तत्वानुसंधान परायण रहते हैं। गुरु - जो मोक्ष का अधिकारी है वह कर्म का अधिकारी नहीं है। मोक्ष ज्ञान से होता है। अतः मोक्ष शब्द से मोक्ष साधन ज्ञान समझना है। साधन में त्याग ही उत्तम है। उत्तम साधन नजदीक होता है। त्याग नजदीक का साधन है। कर्म नजदीक का साधन नहीं है। कर्म का अनुष्ठान करनेवाला पुरुष क्रिया आदि संबंध से शून्य आत्मा की भावना नहीं कर सकता। वैसी भावना करे तो कर्म का अनुष्ठान ही नहीं बन सकता। अतएव कर्म का त्याग ही मोक्ष का हेतू ज्ञान साधन है और श्रुति भी ऐसा ही कहती है। शम,दम,उपरति आदि रखने को कहती है। उसका अर्थ नित्य-नैमित्तिक कर्म में उपराम होने का है। त्याग ही संन्यास है। संन्यास से मुमुक्षु क्रियाफल संबंध शून्य आत्मा की भावना कर सकता है। त्यागी पुरुष ही सर्वात्म स्वरुप परमपद को जान सकता है। योग प्रवृत्ति लक्षण वाला है और ज्ञान संन्यास लक्षणवाला है।अतएव ज्ञान के लिए कर्म का संन्यास जरुरी है। वेदांत का प्रमेय ब्रह्म स्वयं पुरुषार्थ है। विधि के बल से वह पुरुषार्थ नहीं है।

शिष्य- ज्ञान होने के बाद जीवन और विरोधी वृत्तियां तो रहती है।

गुरु-जिसका चित्त श्रवण मनन से शुद्ध हो गया है और जिसको आत्मज्ञान हुआ है उसका ज्ञान विरोधी वृत्तियों से बाधित नहीं होता। बुद्धि का तत्त्व में पक्षपात है। वकील का और डॉक्टर का ज्ञान भी विरोधी वृत्ति से बाधित नहीं होता फिर ब्रह्मज्ञान तो विरोधी वृत्ति से बाधित होगा ही कैसे ? मिथ्याबुद्धि तत्त्वबुद्धि से बाध्य होती है। बाधिका नहीं होती। उत्पन्न आत्मज्ञान संसार के कलेशवाली बुद्धि से बाधित हो जायेगा अतः विधि को मानना चाहिए,यह बात सच्ची नहीं है। जैसे किसी कारण मदारी के कुल में पले हुए राजपुत्र को कोई महापुरुष स्मरण करवाये कि तू राजपुत्र है तो लंबे समय की मदारी के कुल की भावना नष्ट हो जाती है, ऐसे ही तू संसारी नहीं है परंतु सच्चिदानंद ब्रह्म है ऐसा गुरु का उपदेश होनेपर अनादि काल की संसारी भावना निवृत्त हो जाती है, यह दृढ़ हो जाने के बाद कालान्तर में संसारी भाव की संभावना नहीं है। ब्रह्म की सिद्धि अन्य किसीके आधीन नहीं है। महावाक्य और वेदवाक्य आत्मा को समझते हैं, कोई कार्य विशेष में प्रेरणा नहीं करता। उसमें नित्य प्राप्त की प्राप्ति है और नित्य निवृत्ति (अविद्या और दुःख) की निवृत्ति है,फिर साध्य साधन आदि का भेद नहीं रहता तो कर्म प्रवृत्ति कैसे रहेगी। जैसे घड़े में मिटटी का अभेद स्वाभाविक है। भेद अविद्या वाला है वैसे जीव और ब्रह्म का अभेद स्वाभाविक है। भेद अविद्या वाला है,तात्विक नहीं है,अविद्यावाले भेद की निवृत्ति के लिए कर्म की क्या आवश्यकता है ? अविद्या वाला भेद तो ज्ञान से निवृत्त हो जाता है। अतः मुमुक्षु का ज्ञान में अधिकार है,कर्म में नहीं है। यदि जीव और ब्रह्म का वस्तुतः हो तो गाय और घोड़े की भाँति कार्य कारण भाव बने नहीं। अत्यंत भेद में कार्य कारण भाव नहीं बनता। यदि जीव और ब्रह्म का अभेद हो तो भी कार्य कारणभाव नहीं बन सकता। मोक्ष कर्म साध्य नहीं है। कर्म मुमुक्षु के लिए व्यर्थ है इतना ही नहीं किन्तु अनर्थकारी भी है क्योंकि कर्म मुक्ति में सर्वथा प्रतिकूल है। अतएव कर्मवाले,योगवाले और दूसरे मुक्ति नहीं मांगते लेकिन भक्ति मांगते हैं। किन्तु श्रीमद् भागवत के सिद्धांत के अनुसार ज्ञान और वैराग्य के बिना की भक्ति नारदजी के

सामने रोती है। भावना की शुद्धि वैराग्य के बिना नहीं होती और बुद्धि की शुद्धि ज्ञान के बिना नहीं होती। आत्मा के यथार्थ ज्ञान से अन्योन्याध्यासरूप ग्रंथी की निवृत्ति हो जाती है। जिसके चित्त में राग आदि दोष है वह तत्त्वज्ञानी नहीं हो सकता। और जो मनुष्य राग आदि को आत्मधर्म मानता है उसमें तो तत्त्वज्ञान के संभावना ही नहीं है।

शिष्य- बोध होने से पहले की अवस्थामें और बोध होने के बाद की अवस्था में आत्मा में कुछ अंतर पड़ता है कि नहीं ?

गुरु - नहीं आत्मा में कुछ अतिशय नहीं होता क्योंकि आत्मा कूटस्थ नित्य है।

शिष्य - चित्त में कुछ अतिशय होता है कि नहीं ?

गुरु - हां, अज्ञान अवस्था से ज्ञान अवस्था के चित्त में उसप्रकार का बोध ही अतिशय है,अन्य कोई बदलाव नहीं है। अविद्या की निवृत्ति से आत्मा को क्या ? कुछ नहीं । अविद्या की निवृत्ति आत्मस्वरूप है,आत्मा से अतिरिक्त नहीं है।

शिष्य - जिज्ञासु में भी मोक्ष का राग तो रहता है ?

गुरु - विषयों का राग विरोधी है इसलिए त्याज्य है। मोक्ष का राग त्याज्य नहीं है। राग की अनुवृत्ति मात्र से ब्रह्मविद्या में अनादर नहीं करना चाहिए। हिरन के डर से जैसे खेती करना नहीं छोड़ देते वैसे आत्मज्ञान प्राप्त करो और प्रतिकार का उपाय करो। मोक्ष का राग श्रवण आदि की प्रवृत्ति में उपयोगी होने से उपादेय है,हेय नहीं है। जैसे विषय मिथ्या हैं वैसे ब्रह्मातिरिक्त राग भी मिथ्या है जिसको ऐसा लगता है कि भोग,राग,जन्म आदि सब मिथ्या है। इनका जन्म नहीं होता। आत्मज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होनेपर मिथ्याज्ञान की अनुवृत्ति नहीं होती,और मिथ्याज्ञान की अनुवृत्ति के बिना राग आदि की अनुवृत्ति नहीं होती। फिर भी मुमुक्षु को राग की अनुवृत्ति हो जाय तो विषय दोष, दर्शन और ब्रह्मनिष्ठा दोनों महान औषध हैं। ब्रह्मनिष्ठा में मुख्यतः तीन विघ्न हैं :-

१. पामर का संग

२. विषय में आसक्ति

३. बुद्धि की मंदता

यदि प्रारब्ध कर्म से भोगों में राग आदि की अनुवृत्ति होगी तो वह भोग से ही निवृत्ति होगी। क्योंकि भोग जनक अदृष्ट सब से प्रबल होता है। नल,राम,युधिष्ठिर को भी प्रारब्ध भुगतना पड़ा था।

शिष्य -ऐसे कर्म से क्या करना ?

गुरु - भक्त कर्म भगवान को अर्पण करता है। कर्म अर्पण करना ही उसका भजन है। ज्ञानी अपने को कर्म से असंग देखता है। दोनों रीत में कर्म की असर नहीं होती। रज्जु दर्शन में जैसे आभास सर्प का निवर्तक है ऐसे ही आत्मज्ञान कर्म का बाध करेगा। सर्प के डर का कंपन थोडा समय रहता है वैसे प्रारब्ध भोग देकर नष्ट होगा।

शिष्य - आज के मनुष्यों को तो ज्ञान और कर्म का समुच्चय अच्छा लगता है,यानी ज्ञान और कर्म साथ में रह सके वैसा सिद्धांत बताना चाहिए।

गुरु - मनुष्यों को क्या पसंद है उसपर से सिद्धांत निश्चित नहीं हो सकता लेकिन तत्त्व क्या है ऐसा निश्चित करना चाहिए और फिर मनुष्य का जीवन उस तरफ मोड़ना चाहिए।। ज्ञान का समुच्चय कौनसे कर्म के साथ है यह निश्चित करना चाहिए। ज्ञान होने के बाद

जो कर्म हो उसके साथ उसके साथ समुच्चय रखना है कि पूर्वजन्म के कर्म के साथ है या वर्तमान जन्म के साथ ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान होने के बाद जाति आदि का बाध होने से कर्म का अनुष्ठान नहीं हो सकता ,और अनुष्ठान नहीं होने से भाव कर्म भी नहीं रहेगा। अतएव उसका समुच्चय नहीं हो सकता। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा अक्रिय है ऐसा निश्चय होने के बाद आत्मा में वास्तविक क्रिया नहीं रह सकती। तो कर्म आदि कहां से आएंगे ? आत्मा के अपरोक्षज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है अतएव तन्मूलक सभी कर्तृत्व आदि धर्मों की निवृत्ति हो जाती है। गीता में कहा है कि 'ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि भस्मसात कुरुते' यानी ज्ञानरूपी अग्नि सभी कर्मों को भस्म करती है अतएव प्राचीन कर्म भी नहीं रहते तो उनके साथ भी समुच्चय नहीं रहता,रज्जु में सर्प का ज्ञान अज्ञान है ऐसे ही ब्रह्म में जगत का ज्ञान अज्ञान है। रज्जु सर्प कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है। वैसे ही जगत भी कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है,फिर भी रज्जु का अज्ञान डर और भागने का कारण है। वास्तविक रज्जु ज्ञान होनेपर रज्जु में सर्प का ज्ञान ,रज्जु अज्ञान और उस निमित्त होनेवाला पलायन आदि कर्म निवृत्त हो जाते हैं। ऐसा लोगों का अनुभव है ऐसे ही आत्मज्ञान होनेपर आत्मा का अज्ञान और तन्मूलक कर्म आदि की निवृत्ति हो जाती है। अज्ञानी मनुष्य उस उस फल की कामना से उस उस कर्म का अनुष्ठान करता है अतः कर्म का मूल अज्ञान है। तत्वज्ञानी अज्ञान की निवृत्ति होने के बाद इतने समय तक व्यर्थ कर्म किये इस प्रकार का शोक करता है।(सर्प नहीं था फिर भी पलायन के लिए जैसे शोक करते है ऐसे) ज्ञान की उत्पत्ति से पहले इस जन्म में किये हुए कर्म के साथ भी ज्ञान का समुच्चय नहीं हो सकता। यदि ज्ञान और कर्म का समुच्चय सच्चा हो तो उत्पत्ति,प्राप्ति,विकृत्ति और संस्कृति इन चार प्रकारकी कर्म व्याप्ति मोक्ष में भी रहेगी।,लेकिन मोक्ष तो स्वतः सिद्ध ब्रह्मात्मैकत्वरूप है। ये चार प्रकार के कर्म व्यापार का विषय नहीं है। ईशोपनिषद में 'विद्या च अविधां च यस्तद्वेदोभयं सह' आदि कहा हुआ है वहां कर्म समुच्चय समझना है सह समुच्चय नहीं समझना है,यानी प्रथम चित्त शुद्धि के लिए कर्म आवश्यक है,किन्तु ज्ञान होने के बाद कर्ता नहीं रहता तो कर्म कैसे रहेंगे ?

शिष्य - तत्वमसि आदि महावाक्य प्रमाण हैं उसका क्या प्रमाण है ?

गुरु -यदि घट पट आदि का ज्ञान देनेवाले चक्षु आदि चिदात्मा में प्रमाण है तो तत्त्वमसि आदि श्रुतिवाक्य कि जो सिर्फ चिदात्मा के बोधन के तात्पर्य के लिए रहते है; ये यदि प्रमाण न बने तो इनका प्रयोग ही व्यर्थ हो जायेगा। और इस महावाक्य का फल जो ब्रह्मभावरूप मोक्ष है वह उसमें संपूर्ण सुखों की प्राप्ति और सभी दुखों की निवृत्ति होती है। आत्मा अतिरिक्त द्वितीय का अभाव होने से तत्प्रयुक्त किसी प्रकार का दुःख नहीं होता। संपूर्ण सुख की प्राप्ति और निःशेष दुःख की निवृत्ति अन्यत्र नहीं हो सकती, अतएव मोक्ष पुरुषार्थ है। पूर्ण सुख की प्राप्ति और संपूर्ण दुःख की निवृत्ति यदि आत्म स्वरुप से अतिरिक्त मानने में आये तो आत्मा अद्वैत सिद्ध नहीं होगा। आत्म अतिरिक्त सुख के लिये प्रवृत्ति और निवृत्ति वाला द्वैत है। ऐसे द्वैत से रहित अशेष सुख स्वरुप आत्मा है अतिरिक्त नहीं है,एवम् निःशेष दुःख निवृत्ति भी आत्मस्वरूप है क्योंकि अभाव का अधिकरण स्वरुप मानने में आता है। और शब्द की शक्ति कार्य के लिए ही हो ऐसा नियम नहीं है। कोई कहता है कि "तेरे घर पर पुत्र का जन्म हुआ" उसमें सिर्फ शब्द से सुख होता है। अतएव जिस शब्द से जिस अर्थ में शक्ति-ग्रह हो उस शब्द से उस शब्द का बोध होता है। वह अर्थ सिद्ध हो या साध्य हो फिर भी शक्ति-ग्रह दोनों में समान है। कर्म ही पुरुषार्थ है और ज्ञान पुरुषार्थ नहीं है ऐसा नियम नहीं है। "दसवां तू है" उसमें भी ज्ञान से सुख होता है।

आत्मज्ञानी की वासना क्षीण हो जाती है। उसमें जाग्रत,स्वप्न,सुषुप्ति आदि अवस्था दिखती हैं परंतु ज्ञानी स्वात्मा से अतिरिक्त कुछ देखता नहीं है। अज्ञानी इन अवस्थाओं की कल्पना करता है। लेकिन कल्पित अवस्थाओं से आत्मा में संस्कार नहीं पड़ते। जैसे मृगजल की कल्पना से मरुभूमि गीली नहीं होती वैसे तत्वज्ञानी में दूसरे पुरुष के द्वारा कल्पित जाग्रत आदि अवस्थाओं के संस्कार नहीं पड़ते कि जिससे जन्मांतर का भय हो। ज्ञानी को तो संपूर्ण प्रपंच आत्मस्वरूप ही प्रतीत होता है,अतिरिक्त नहीं। "सर्वम् खल्विदं ब्रह्म" यह श्रुति संगत होती है। श्रीमद् भागवत में भी कहा है कि देह बैठे या उठे उसको सिद्ध पुरुष नहीं देखता। जगा हुआ पुरुष जैसे स्वप्न को याद नहीं करता वैसे आत्मज्ञानी जाग्रत को याद नहीं करता। यह श्लोक भागवत में दो बार आता है। (३-२८-३७ और

११-१३-३६) पुरुष स्वतः असंग है,उसमें कर्तृत्व आदि का अनर्थ संग अविद्या से मालूम पड़ता है। ऐसा वेदांत का सिद्धांत है। विद्या से अविद्या की निवृत्ति होनेपर मोक्ष होता है।

शिष्य - अविद्या की नाईं वासना को संपूर्ण संग का निमित्त क्यों न माना जाय ?

गुरु - वासना स्वयं कार्य है। अतः सभी कार्य में उसका अन्वय नहीं हो सकेगा अतएव वह सभी कार्यों में उपादान नहीं हो सकती। तो फिर अपनी उत्पत्ति में स्वयं उपादान कैसे हो सकती है ? अविद्या तो अनादि है अतः वह कर्म नहीं है और सभी कर्मो में अन्वित है,अतः वह उपादान कारण है। अतएव अविद्या के नाश से मोक्ष होता है। सिर्फ वासना में निरोध से नहीं। असंग आत्मा में अविद्या के बिना वासना का योग और अनर्थ संगती की शंका भी नहीं होती,क्योकि किसीका वास्तविक संबंध कूटस्थ नित्य आत्मा में नहीं बनता, लेकिन मृगजल में जल की प्रतीति के समान आत्मा में अनर्थ प्रतीति अविद्या से होती है।

शिष्य - ज्ञान तो कम समय का होता हैऔर अज्ञान और वासना बहुत समय के हैं तो ज्ञान से उसका नाश कैसे होगा ?

गुरु - बुद्धि का तत्त्व में पक्षपात रहता है अतएव तत्त्वविषयक आत्मज्ञान अज्ञान से प्रबल है। और उत्पन्न हुई आत्मभावना मृत्यु पर्यंत: स्वभावतः अनुवृत्त रहती है अत: अंतिम प्रत्यय के लिए आत्मभावना की अपेक्षा नहीं है। प्रमाज्ञान का अप्रमाज्ञान से बाध नहीं होता । जबतक विवेक के द्वारा आत्मा का प्रमा ज्ञान नहीं होता तभीतक उपासना और मन के निरोध की जरूरत है। शास्त्र के द्वारा प्रमा ज्ञान उत्पन्न हो जाय तो मध्य में कोई बाधक नहीं होने से स्वभाव से वह अनुवृत्त रहेगा अतएव अंतिम प्रत्यय के लिए किसी निरोध की अपेक्षा नहीं है। अद्वितीय आत्मा का साक्षात्कार होने के बाद कल्पित अनात्म पदार्थ की निवृत्ति हो जाती है अतः शरीर आदि का सत्यरूप से भान नहीं रहता। आत्मज्ञानी आत्म अतिरिक्त अनात्म पदार्थ को नहीं देखता। वास्तविक द्वैत तो है नहीं लेकिन अज्ञान हो तभी द्वैत का भान होता है,उस समय एक दूसरे को देखता है। वस्तुतः चोर नहीं है फिर भी स्वप्न में कल्पित चोर दिखता है। जगने के बाद स्वप्न के अज्ञान की निवृत्ति के साथ कल्पित चोर की निवृत्ति भी हो जाती है। जगने के बाद चोर के अदर्शन में जाग्रत बोध ही कारण है,दूसरा कारण नहीं है। ऐसे ही अज्ञान कल्पित शरीर आदि के अदर्शन में आत्मबोध ही कारण है,निरोध कारण नहीं है।

आत्मज्ञान से बाधित प्रपंच की प्रतीति पूर्व संस्कार से हो तो भी जन्मांतर के आरंभ रूप अनर्थ का कारण वह नहीं होती। जैसे भुना हुआ बीज , बीज के जैसा दिखता होनेपर भी उगता नहीं है। वैसे बाधित प्रपंच की अनुवृत्ति भी जन्मांतर के अनर्थ की आरंभक नहीं होती। यह सभी मोक्ष शास्त्रों का कहना है।

शिष्य- हमारे में आत्मा है तो अविद्या को क्यों रहने देता है।

गुरु - अविद्या की निवृत्ति के लिए अद्वितीय साक्षात्कार की अपेक्षा है। यद्यपि आत्मा स्वयंप्रकाश होने से स्वतः स्फुरण रूप है किन्तु वह अविद्या का निवर्तक नहीं है किन्तु अविद्या का साधक है। वेदांत प्रमाणजन्य वृत्यात्मक अद्वितीय आत्मज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति होती है। अद्वितीय आत्मा में वृत्ति ज्ञान के सिवा तादृश्य शब्दज्ञान नहीं हो सकता। अतः तादृश्य अर्थ में शब्द व्युत्पत्ति अपेक्षित है। स्वसत्ता की स्फूर्ति के लिए आत्मा से अतिरिक्त किसी की अपेक्षा वृत्तिज्ञान वस्तुतः अंतःकरण निष्ठ है। तो भी मैं जानता हूँ। ऐसी प्रतीति से आत्मा में प्रतीति होती है। "यह घड़ा है" ऐसा ज्ञान भी ब्रह्मरूप है,मनोवृत्ति स्वरुप नहीं है क्योंकि वृत्ति जड़ है। वह प्रकाशक नहीं होती फिर भी आवरण भंग के लिए वृत्ति की जरूरत पड़ती है। प्रमाणजन्य

घटाकार वृत्ति और उससे स्पष्ट होनेवाला घट से अवच्छिन्न चैतन्यात्मक ब्रह्म घट ज्ञान है। वृत्ति प्रमाणजन्य है अतः ऐसे ज्ञान में प्रमाण जन्यत्व मानकर फल का उपदेश होता है। प्रमाण क्रिया के अनुभव रूप जो उपचारिक फल है उसके संबंध की आत्मा में

उपचारिक वृत्ति मानकर फल आत्मनिष्ठ कहलाता है,अतएव ब्रह्मस्वरूप से अतिरिक्त घट आदि का ज्ञान नहीं है,किन्तु घट ज्ञान उपाधि सहित का ज्ञान है। 'नेह नानास्ति किंचन' 'एक मेवाद्वितीयम्' आदि श्रुति,कल्पित,उपाधि सहित ज्ञान है। अनुभव स्वरुप आत्मा से अतिरिक्त कोई विषय नहीं है कि जो अज्ञात हो।

शिष्य - श्रुति कहती है कि 'आत्मा दृष्टव्य:' यानी आत्मा देखने योग्य है,इसमें विधि दिखती है।

गुरु - जो मनुष्य बहिर्मुख है उसकी बाह्य विषयक प्रवृत्ति रोकने के लिए और अंतर्मुख प्रवृत्ति के लिए विधि की छाया जैसा यह वाक्य है। वस्तुतः यह विधि नहीं है। जो सांसारिक पुरुष हित की प्राप्ति और अहित की निवृत्ति की इच्छा से विहित और निषिध कर्म में दिनरात व्यग्र है,जिसको अध्यात्म शास्त्र के श्रवण,मनन आदि का समय नहीं मिलता उनकी आध्यात्म शास्त्र के श्रवण आदि में प्रवृत्ति कराने के लिए कर्तव्य बोधन के द्वारा ऐसा कहा हुआ है कि 'आत्मा दृष्टव्यः' यानी कर्मकांड में सारा पुरुषार्थ समाप्त नहीं होता किन्तु वह पुरुषार्थ का आभास है। परम पुरुषार्थ तो आध्यात्म शास्त्र के श्रवण आदि में है अतः यदि वास्तविक सुख और नित्य सुख चाहते हो तो आत्मा का श्रवण मनन आदि करो। वेदांत का स्ववेद्य ब्रह्मज्ञान से अतिरिक्त फल नहीं है जैसे स्वर्ग के फल के लिए यज्ञ में विधि की अपेक्षा है वैसे मोक्ष के लिए ब्रह्मज्ञान में विधि की अपेक्षा नहीं है।तत्त्वज्ञान में सिर्फ अज्ञान की निवृत्ति की जरूरत है। अज्ञान की निवृत्ति होनेपर मुक्ति आत्मस्वरूप होने से सिद्ध ही है।साध्य नहीं है। अज्ञात फल पुरुषार्थ नहीं होता। अतः वहां ज्ञानमात्र से अपेक्षा है। आत्मा चेतन स्वयं प्रकाश होने से उसमें दूसरे प्रमाण के प्रवेश के बिना भी शब्द का प्रयोग हो सकता है। ब्रह्म में दूसरे प्रमाण का प्रवेश माना हुआ नहीं है। वेदवाक्य अज्ञात ज्ञापक होने से प्रमाण ही है। प्रतिपाद्य अद्वैत ब्रह्म दूसरे प्रमाण के योग्य नहीं है। अतः वेद में निरपेक्ष प्रमाण है। निर्धर्मक ब्रह्म में सामान्य या विशेष कोई धर्म नहीं है अतएव वह शब्द गोचर नहीं है फिर भी वेदांत में सभी पदों की शुद्ध ब्रह्म में लक्षणा मानी हुई है। लक्षणा से शुद्ध ब्रह्म का निर्विकल्प बोध होता है। अन्य अर्थ के बोधक शब्द की लक्षणावृत्ति से अन्यत्र प्रयोग होता है। जैसे कि गंगा के "ऊपर गाँव है" इसमें जैसे लक्षणा से अर्थ होता है वैसे वेदांत वाक्य भी शब्द की लक्षणा के द्वारा बोध करता है अनुष्ठेय पदार्थ पुरुष व्यापर के आधीन रहता है। उस पुरुष से कर्तुम् अकर्तुम् और अन्यथा कर्तुम् योग्य है। आत्मज्ञान प्रमाणतंत्र और वस्तुतंत्र है,पुरुषतंत्र नहीं है, जहां सारा द्वैत जाता रहता है वहां वेदांत वाक्य निष्प्रयोजन नहीं होता। वस्तुतः द्वैत नहीं है फिर भी प्रतीत होता है। बाध होने के बाद भी सीपी रूपा के जैसी दिखती है।वस्तुतः वहां रूपा था ही नहीं ऐसा ज्ञान होता है। आत्मज्ञान होनेपर ऐसा लगता है कि आत्मा ही द्वैत के सदृश्य प्रतीत हो रहा था,वस्तुतः द्वैत हुआ ही नहीं था,ऐसा ज्ञान होता है वही सच्चा ज्ञान है। वास्तविक आत्मा एक ही तत्त्व है। वह भी सांख्य आदि द्वैत वादियों की नाई अनेक नहीं है लेकिन एक ही है।

अविद्या सत् से विलक्षण है इसलिये द्वैतापत्ति नहीं है। असत से विलक्षण है इसलिए सविशेष जैसी लगती है। अतः जाग्रत आदि अवस्था बन सकती है किन्तु वह पारमार्थिक नहीं है।

प्रकरण ५

ज्ञेय समाप्ति

शिष्य - साक्षात्कार का अर्थ क्या है ?

गुरु - साक्षात्कार अर्थात् जैसी वस्तु हो वैसी समझकर अनुभव लेना। साक्षात्कार वाले ज्ञान में विधि नहीं बनती है। जैसे घट का ज्ञान घट को प्रत्यक्ष करता है उसमें विधि की जरुरत नहीं है वैसे द्वितीय के अभाव से लक्षित ब्रह्म विषयक मानस वृत्ति रूप साक्षात्कार विषयाधीन है एवम् प्रमाणाधिन है,पुरुषाधिन नहीं है। जो पुरुषतंत्र हो वह विधेय होता है जो वस्तुतंत्र है उसका विधान नहीं बनता।

शिष्य -योगसूत्र में कहा है कि "तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्" यानी वहां प्रत्यय की एकाग्रता रूप ध्यान करना,अथवा निरंतर ज्ञान उत्पन्न हो ऐसा प्रवाह रखना-इस का अर्थ क्या है ?

गुरु- ध्यान से दो प्रकार के ज्ञान होते हैं। एक ब्रह्मात्मक और दूसरा प्रमात्मक। प्रथम ज्ञान के निरंतर अभ्यास से वस्तु का निश्चयात्मक साक्षात्कार नहीं होता । यह स्थाणु है कि पुरुष है। ऐसे संशयात्मक निरंतर अभ्यास से स्थाणु विषयक अथवा पुरुष विषयक साक्षात्कार प्रमात्मक नहीं होता। भ्रमात्मक ज्ञान से आवृत्तिरूप ध्यान अद्वैत ब्रह्म के दर्शन का उपाय नहीं है अतः प्रमात्मक ध्यान के अभ्यास के संग्रह के लिए मनन विशेषण दिया हुआ है। मनन से सुने हुए आत्मज्ञान में संशय आदि की निवृत्ति होती है। अतः मननपूर्वक ध्यान यानी चिकित्सा किया हुआ शब्द ज्ञान संततिरुप ध्यान, ऐसा अद्वैतात्म विषयक साक्षात्कार का उपाय वेदांत में माना हुआ है। ऐसे ध्यान से उत्पन्न अद्वैत आत्म साक्षात्कार मानस वृत्तिरूप होता है। उससे मोक्ष के प्रतिबंधक रूप अज्ञान की निवृत्ति होती है।

शिष्य - उसमें भावना कैसी करनी चाहिये ?

गुरु - साक्षात्कार में भावना की जरूरत नहीं है। भावना पुरुषतंत्र है। "आत्मैवेद सर्वम्" यानी सब आत्मा ही है,ऐसे श्रुति प्रमाण से आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने के बाद द्वैत ज्ञान का उपमर्दन होता है,और द्वैतज्ञान के संबंधी साध्य साधन आदि विभाग का लोप हो जाता है,अतएव भावना की जरूरत नहीं है। जो साध्य हो उसमें सतत कार्य होता है और जो सिद्ध हो वह ज्ञान की सिद्धि के लिए है।

और आत्मतत्त्व का शब्द ज्ञान भी अपरोक्ष होता है,परोक्ष नहीं होता। जब प्रमेय परोक्ष हो तभी उस बाबत का शब्दज्ञान भी परोक्ष होता है। जब विषय अपरोक्ष होता है तभी उस विषय का शब्दज्ञान भी अपरोक्ष होता है। परोक्षत्व और अपरोक्षत्व प्रमेय के अनुसार होता है,शब्द के अनुसार नहीं होता,श्रुति में कहा है कि "यत्साक्षाद परोक्षाद् ब्रह्म" ऐसे वाक्य से ब्रह्म अपरोक्ष है ऐसा प्रतीत होता है। साक्षात् शब्द से ब्रह्म में मुख्य अपरोक्षत्व है घट आदि तो ज्ञान के द्वारा अपरोक्ष होते हैं। निश्चय संशय का प्रतिबंधक होता है। निर्दोष श्रुति के द्वारा निश्चित अर्थ में संदेह नहीं हो सकता। देश काल और वस्तु से थोडा भी एकात्म्य वस्तु में अंतर नहीं पड़ता तो फिर उक्त अर्थ में अपरोक्ष बुद्धि कैसे हो ? अर्थात परोक्षज्ञान नहीं होता अपरोक्ष ही होता है।

शिष्य-कोई कहे कि शब्दज्ञान के साथ युक्ति,प्रसंख्यान(आवृत्ति) आदि की जरूरत है।

गुरु- संपूर्ण दुःख की निवृत्ति करनेवाले आत्मज्ञान से उत्पादक शब्द में सहकारी रूप से युक्ति आदि की अपेक्षा नहीं है। अधिष्ठान तत्त्व के ज्ञान से अध्यस्त के उपादान अज्ञान की निवृत्ति होती है। उपादान की निवृत्ति से उपादेय की निवृत्ति होती है।आत्मा का अयथार्थ अनुभव प्रपंच का निमित्त है। शास्त्र से आत्मा का यथार्थ अनुभव होनेपर उपादानभूत अज्ञान की निवृत्ति से प्रपंच निवृत्त हो जाता है। अन्य किसी सहकारी कारण की अपेक्षा नहीं है। विवर्तवाद में प्रपंच की कल्पना अज्ञान से होती है और उसकी निवृत्ति ज्ञान से होती है। तत्पश्चात ज्ञेय की समाप्ति हो जाती है।

शिष्य- ऐसे ज्ञान की आवृत्ति करनी चाहिए कि नहीं ?

गुरु - यदि ऐसे ज्ञान के लिए बारबार ध्यान की जरूरत हो तो कितनी बार आवृत्ति करोगे ? सो बार,हजार बार, लाख बार, या करोड़ बार ? कितनी बार ध्यान करे तो आवृत्ति कहेंगे ? उसकी हद का निर्णय तो है नहीं ऐसी अवस्था में मुमुक्षु को आवृत्ति में निःसंदेह प्रवृति होगी नहीं। यह बड़ा दोष है। और काल की अवधि का निर्णय भी नहीं होगा यानी एक साल,दो साल आदि का निर्णय होगा नहीं और ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होनेपर उसके उपाय में भी अविश्वास आ जायेगा। और मुमुक्षु उपाय को छोड़ देगा,अतएव ज्ञेय समाप्ति होगी नहीं। शास्त्र विहित उपाय निश्चित होना चाहिए। राजा सिंहासन पर बैठने के बाद मैं राजा हूँ, मैं राजा हूँ ऐसा रटन नहीं

करता। कन्या को विवाह के बाद अपने विवाह में शंका नहीं रहती। कन्या एक ही बार में जो अपने नहीं है उनको अपना कर लेती है और उसको आवृत्ति की जरूरत नहीं रहती,तो जिज्ञासु एकबार महावाक्य के बोध से जो आत्मा अपना है उसको विश्वास से अपना क्यों नहीं कर सकता ?

जहां मंद अंधकार हो ,और पदार्थ दूर देश में रहा हो वहां प्रथम साधारण रूप से प्रत्यक्ष होता है और फिर बारबार देखने से और समीप जाने से विशेष रूप का ज्ञान होता है,तभी घट आदि का निश्चय होता है। आवृत्ति की जरूरत है फिर भी वहां भी शंका रह जायेगी क्योंकि प्रथम प्रमाण का और दूसरे प्रमाण का विषय एक नहीं है। जैसे पूर्वज्ञान से ऐसा मालूम पडा कि कोई वस्तु है फिर ऐसा लगा कि वह मनुष्य है,फिर तीसरे ज्ञान से ऐसा लगा कि वह पुरुष है,चौथे ज्ञान से ऐसा लगा कि वह काला है,पांचवे ज्ञान से ऐसा लगा कि वह मद्रासी है। ऐसा भिन्न भिन्न निश्चय होता है। वहां एक विषय के प्रमाण की आवृत्ति नहीं है किन्तु भिन्न भिन्न विषयक अनेक प्रमाण है। प्रमेय भी उस उस ज्ञान के भेद से भिन्न ही है। अतः आवृत्ति की सफलता का दृष्टांत वह नहीं हो सकता,प्रमाण से प्रमेय में कुछ नया नहीं हो जाता। तो उसमें आवृत्ति क्या करोगे। बारबार घट को देखने से घट में कुछ अतिशयता नहीं आती। अतः जैसा प्रमाण वैसा प्रमेय हो जाता है। प्रमाण ठीक हो तो सभी ठीक हो जाता है। दरजी और मोची भी प्रथम परमाणु निश्चित करते हैं।

शिष्य - ज्ञानीपुरुष कैसे रहता है ?

गुरु - ऐसा प्रश्न अर्जुन ने गीता में दो बार पूछा है। गीता में दूसरे अध्याय में कहे हुए स्थितप्रज्ञ के लक्षण और चौदहवे अध्याय में कहे हुए गुणातीत के लक्षण ये ज्ञानी के लक्षण हैं। एक ज्ञानीपुरुष को किसीने पूछा कि "महाराज,आप किस जाति के हो ?" ज्ञानी ने उत्तर दिया कि क्या कोई बेटा बेटी का विवाह करना है ? ऐसी इच्छा वाले जाति धर्म पूछते हैं।" फिर उसने पूछा कि "आप कहां के रहनेवाले हो ?" उस ज्ञानी पुरुष ने कहा कि "भगवान में रहते है" उस व्यक्ति ने कहा "नहीं ! सच बताओ ! " ज्ञानी ने कहा "मैनें तो सच ही कहा है,अब कहता हो तो झूठ बोलू।" ज्ञानी की भाषा लोगों को समझना मुश्किल होता है और लोगों की द्वैतवाली भाषा में ज्ञानीपुरुषों को रूचि नहीं होती। फिर भी ज्ञानीपुरुषमें कभीकबार प्रारब्धयोग से लेश रागद्वेष मालूम पड़े तो पानी पे लकीर की नाईं क्षणभर के लिए होते हैं। जल का स्वभाव ठंडा है। अग्नि के संयोग से वह स्वभाव आवृत्त हो जाता है,किन्तु अग्नि का संयोग नहीं रहनेपर जल फिर से ठंडा हो जाता है,विरोधी अन्य पदार्थ से अपना स्वभाव ढक जाए तो भी मूल स्वभाव का त्याग नहीं होता। संक्षेप में आत्मैक्य साक्षात्कार होने के बाद संपूर्ण द्वैत (कल्पित होने से) निवृत्त हो जाता है। फिर युक्ति या विधि की अपेक्षा नहीं है। दूसरी वस्तु रहे तो अपेक्षा अनपेक्षा का विचार हो। ज्ञान होने के बाद दूसरी वस्तु नहीं रहती।

प्रमाण में सिर्फ अज्ञान ज्ञापकत्व की अपेक्षा है। यह कार्य वेदांत प्रमाण से होता है। आत्मैक्य दूसरे प्रमाण से नहीं होने से सिर्फ 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य से वेद्य है। अज्ञात ज्ञापक से अतिरिक्त कोई कार्य प्रमाण का नहीं है। जैसे तंतु से पट अतिरिक्त नहीं है वैसे ब्रह्म से अतिरिक्त जगत नहीं है। ब्रह्म के ज्ञान से समस्त ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। तंतु और पट में शब्द,बुद्धि,कार्य आदि का भेद होनेपर भी पदार्थ का भेद नहीं होता। भेद होता हो तो तंतु का नाश होनेपर पट मिलना चाहिए। और भिन्न परिणाम मिलना चाहिए,लेकिन तंतु के परिणाम से अतिरिक्त परिणाम पट में नहीं है। अतः वह तंतु से भिन्न नहीं है। ऐसे दृष्टान्त से और तर्क से असंभावना रूप दोष निकल जाता है,और तत्त्वमसि आदि वाक्य से आत्मैक्य बुद्धि होती है। उसमें युक्ति की जरूरत पड़े तो वेद के अर्थ- अनुकूल युक्ति का आश्रय करना चाहिए,संदिग्ध स्थानपर संदेह की निवृत्ति के लिए प्रमाण तर्क की अपेक्षा करता है,अर्थ की सिद्धि के लिए नहीं।

शिष्य - ध्यान की क्या जरूरत है ?

गुरु - आत्मज्ञान होने के बाद प्रारब्ध कर्म के अनुसार शरीर,इन्द्रियादि रहते हैं। कभी कबार पूर्व के संस्कार से अनात्म बाह्य पदार्थ विषयक चित्तवृत्ति नहीं हो इसलिए जीवन्मुक्त दशामें प्रज्ञा आदि शब्द से ध्यान का विधान है। मुक्ति दो प्रकार की है। एक

जीवनमुक्ति और दूसरी परममुक्ति। जिनका प्रारब्ध कर्म का भोग हो गया है उनको प्रारब्ध कर्माधिन शरीर पात से अतिरिक्त कोई ध्यान आदि साधन की जरूरत नहीं है। उसको आवृत्ति की जरूरत नहीं है। लेकिन जो जीवन्मुक्त है उनको ज्ञान हुआ है,फिर भी सभी कर्मो का उपभोग नहीं हुआ। अतएव प्राचीन कर्म आदि से चित्त में विक्षेप होनेपर फिर से अनात्म पदार्थ विषयक चित्तवृत्ति हो जाती है,इसलिए उनके लिए ध्यान का विधि है। यदि अंतर्मुख चित्तवृत्ति नहीं रहे तो बाहर शब्द आदि का ध्यान समय समय पर होता है। चित्त में स्थिरता आना संपूर्ण पुण्यों का फल है। ज्ञानी का ध्यान अर्थात् मानसी क्रिया नहीं समझना है किन्तु ब्रह्म विज्ञान में सावधानता मात्र रखने का अभिप्राय है। यदि ध्यान का अर्थ मानसीक क्रिया हो तो प्रज्ञा शब्द का उपयोग नहीं होगा, "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" इस श्रुति का अर्थ तत्त्व में सावधानता हो सकता है। वैसा न होकर ध्यान का अभिप्राय हो तो "विज्ञाय ध्यानं कुर्वीत" ऐसा कहा होता। अतः विज्ञान में सावधानता प्रज्ञा शब्द का अर्थ है।

शिष्य -निदिध्यासन का अर्थ क्या है ?

गुरु - अन्य कोई प्रत्यय के अंतराय बिना निरंतर निश्चयात्मक भावना। श्रुति में "दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन" ऐसा कहा है वहां निदिध्यासन विज्ञान स्वरुप है ध्यान नहीं है ऐसा स्पष्ट किया हुआ है। ध्यान दो प्रकार के होते हैं एक साधनरूप और दूसरा फलरूप। जहां "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" शब्द आते हैं वहां फलरूप ध्यान है,वहां साधनवाला ध्यान नहीं है।

शिष्य - तत् पद और त्वम् पद के लक्ष्य अर्थ क्या है ?

गुरु - त्वम् पद आत्मा में अज्ञान से आरोपित अब्रह्मत्व की निवृत्ति के लिए है।और तत् पद ब्रह्म में अज्ञान से आरोपित अनात्मत्व की व्यावृत्ति के लिए है।इसप्रकार दोनों पद सार्थक है। आत्मा और ब्रह्म का भेद-असहिष्णु अभेद है,अतः ज्ञेय समाप्त हो जाता है। वेदांत वाक्य से ब्रह्मात्मेक्य बोध होता है वह अबाधित अर्थ वाला होने से प्रमाण है।

शिष्य- किसी भी भेद के बिना विधि या निषेध नहीं हो सकते,अतः भेद में भी शास्त्र का प्रमाण क्यों न माना जाय ?

गुरु - भेद पुरुषार्थ नहीं वैसे पुरुषार्थ का साधन भी नहीं है,परंतु दुःख का साधन है।"द्वित्याद्वै भयं भवति" दूसरे से भय होता है। यह श्रुति भी स्पष्ट बताती है कि भेद अपुरुषार्थ है। फिर भी माया से कल्पित भेद श्रुति में माना हुआ है,वास्तिक भेद माना हुआ नहीं है। "नेह नानास्ति किंचन" इस श्रुति से वास्तिक भेद बांधे है,कल्पित भेद रहे तो विरोध नहीं है। दृश्य मात्र मायिक है,भेद भी दृष्य है,अतः मायिक भेद रह सकता है। मायिक भेद में पारमार्थिकपना नहीं है अतः उसका निषेध हो सकता है। भेद में मायिकत्व ब्रह्मज्ञान का अंग है।

शिष्य -मुझे भेद में पारमर्थिकत्व नहीं लगता।

गुरु - तो तुम्हारे प्रति निषेध भी नहीं है। जो भेद को पारमार्थिक मानते हैं उसके प्रति निषेध की जरूरत रहती है।

शिष्य - अत्यंत अदृष्ट का कदापि भ्रम से भान नहीं है,नहीं तो आकाशपुष्प का भी भान हो,किन्तु ऐसा नहीं होता। किसी समय रूपा देखा हो उसके संस्कार से सीपी में रुपा का आरोप होता है ऐसा न्यायमत वालों का कहना है।

गुरु -रस्सी में जो सर्प दिखता है वह सर्प पहले कहां देखा होता है? कहीं नहीं। जहाँ सर्प दिखता है वहां उस समय सर्प है कि नहीं यह निश्चित करना है। प्रत्यक्ष वर्तमान और सन्निकृष्ट विषय का होता है,कालांतर अथवा देशान्तर में स्थित सर्प विषयक भ्रम रज्जु में नहीं हो सकता किन्तु अविद्या स्वयं सर्पाकार से परिणाम को प्राप्त होती है और तदाकार परिणत माया वृत्ति से उसका भान होता है। आरोपित सर्प चक्षु का विषय है। उसका प्रातिभासिक शरीर होने से भान से पुर्व वह नहीं होता,अतः चक्षु के पास वह नहीं होने से

इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है अपितु साक्षी भास्य है। और जब ज्ञान होता है तभी 'यह रज्जु है परंतु सर्प नहीं है' ऐसे अधिष्ठान के ज्ञान से सर्प और उसका उपादान अज्ञान की निवृत्ति होती है।

रज्जु में सर्प का आरोप करके आरोपित सर्प में सत्यता का संबंध माया से होता है अतः भ्रांति के समय रज्जु-सर्प सत्य प्रतीत होता है। वास्तविक सर्प तो है ही नहीं,ऐसा हो तो रज्जु के ज्ञान से उसकी निवृत्ति होगी नहीं।ऐसे ही ब्रह्म में जगत का मिथ्यात्व समझना है।

और व्यावहारिक दृष्टि से देखे तो प्रमाण वाली वस्तु का आरोप होता है,ऐसा नियम नहीं है। ज्ञात का आरोप होता है, अज्ञात का नहीं होता,फिर वह ज्ञान भ्रम हो या प्रमा हो उसमें आग्रह नहीं नहीं है। यद्यपि पूर्व दृष्टिभेद में मिथ्यात्व का अनुभव हुआ नहीं है तो भी वस्तुतः मिथ्यात्व विशिष्ट भेद का ज्ञान तो अवश्य हुआ है। तात्पर्य यह है कि ऐसे ही पूर्वदृष्ट सत्य सर्प का सजातीयज्ञान रज्जु में होता है,वैसे पूर्वदृष्ट मिथ्याभेद के सजातीय भेद में सत्यत्वज्ञान भ्रमात्मक होता है। भ्रम प्रमा साधारण पूर्वज्ञान भ्रम होने के अपेक्षित है।प्रमोत्तर भ्रम के जैसा भ्रमोत्तर भ्रम होता है। लाघव से पूर्वज्ञान सिर्फ आरोप में कारण है,प्रमा ज्ञान कारण नहीं है। वस्तुतः प्रपंच मात्र को मिथ्या जाननेवाले वेदांती व्यावहारिक सर्प को भी नहीं मानते। मोर की दृष्टि में वह सर्प नहीं है,सर्प की दृष्टि में भी वह सर्प नहीं है।

शिष्य- ज्ञान में भेद कैसे पड़ते है ?

गुरु -यह घट ,यह पट है,आदि ज्ञान में जो भेद प्रतीत होता है वह ज्ञान का ज्ञान का स्वाभाविक भेद नहीं है। स्वतः अभिन्न ज्ञान में भेद प्रतीत होता है। घटाकाश,महाकाश आदि स्थानों में आकाश में भेदभान होता है,किन्तु घटाकाश महाकाश में स्वतः भेद नहीं बनता। घट मठ रूप उपाधि में जो भेद है वह उपाधेय आकाश में आरोपित प्रतीत होता है। घट आदि उपाधि का नाश होनेपर वस्तुतः आकाश में भेद भान नहीं होता। सम्यक् ज्ञान मिथ्या ज्ञान भी अंतःकरण की वृत्ति का ज्ञान है,चैतन्यरूप नहीं है। अंतःकरण कल्पित होने से उसकी वृत्ति में होनेवाले ज्ञान के भेद भी कल्पित है।

शिष्य - ज्ञाता कौन है ?

गुरु - व्यापार विशिष्ट बुद्धि में ज्ञातापना है। ऐसी बुद्धि में चैतन्य की छाया पड़ती है। वस्तुतः अचेतन बुद्धि उस छाया से चेतन के समान लगती है।आत्मा कूटस्थ होने से उसमें क्रिया नहीं है,अतः उसमें ज्ञातापना या कर्तापना बनता नहीं है। निरपेक्ष पुरुष विषय का प्रकाशक नहीं है। यदि वह विषय का प्रकाशक हो तो सदा विषय का प्रकाश रहने से मोक्ष मिलेगा नहीं। यदि इन्द्रियादि सापेक्ष विषय के प्रकाश मानों तो इन्द्रियादि हो तभी संसार और इन्द्रियों के लय से मोक्ष सिद्ध होता है।

शिष्य- ज्ञाता और ज्ञेय का संबंध कैसा है ?

गुरु - घट आदि विषय का पुरुष के साथ साक्षात् संबंध नहीं है किन्तु इन्द्रियों के द्वारा ही (व्यवहार दृष्टि से) अथवा अविद्या के द्वारा (प्रातिभासिक सत्ता की दृष्टि से) विषय का संबंध माना जाता है। साक्षात् पुरुष का विषय के साथ संबंध होता हो तो "यह देखा यह नहीं देखा" ऐसे दृष्ट अदृष्ट व्यवहार नहीं बन सकते। विषय दूर हो तो भी उसका भान पुरुष के साथ होगा। अतः पुरुष के साथ साक्षात् संबंध विषय का नहीं है। वास्तव में इंद्रिय के द्वारा बुद्धि का विषयाकार परिणाम विषय का ज्ञान है।ऐसी बुद्धि आत्मा की ओर नहीं जाती। अहं बुद्धि आत्मग्राहय है,आत्मग्राहक नहीं है। जो आत्मग्राह्य हो वह घट के समान आत्मग्राहक नहीं होती।घट आत्मग्राहय है इसलिये आत्मग्राहक नहीं हो सकता, ऐसे ही अहं बुद्धि भी आत्मग्राह्य होने से आत्म स्वरुप ग्राहक नहीं होती।

शिष्य - आत्मा अन्य प्रमाणों से भले ही नहीं जानने में आये लेकिन वह ब्रह्म स्वरुप है ऐसा कैसे जाना जानने में आता है ? आत्मा को जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति ऐसी तीन अवस्था है,ब्रह्म को ये अवस्थाएं नहीं है।

गुरु - आत्मा तीन अवस्था से रहित है यानी वह तीन अवस्था का साक्षी है। वह सद्वितीय नहीं है, उसमें द्वैत मात्र कल्पित है। कल्पित धर्म ऐक्य में बाधक नहीं होता। क्योंकि ऐक्य के समय धर्मों की निःशेष निवृत्ति होती है। यदि कल्पित धर्म है ही नहीं तो बाधक कैसे होगा ? अद्वितीय स्व महिमा में रहा हुआ , कूटस्थ,नित्य सच्चिदानंद उदासीन चैतन्य मात्र आत्मा है, उसमें भावात्मक प्रमाता की त्रिपुटी,कर्ता की त्रिपुटी एवम् भोक्ता की त्रिपुटी आदि संपूर्ण प्रपंच विवर्तरूप से प्रतीत होता है। उस परमात्मा के साथ साक्षी का ऐक्य वेदांतवाक्य से बाधित होता है।

शिष्य- यदि बोध साक्षी है तो भी सविशेषपना प्राप्त होगा।

गुरु- साक्ष्य के संबंध से साक्षित्व है। साक्ष्य अविद्या से कल्पित है अतः साक्षित्व भी कल्पित है।कल्पित धर्म वास्तविक अविशेषत्व का विरोधी नहीं होता। कल्पित सर्पत्व वास्तविक रज्जुत्व का विघातक नहीं होता। अज्ञान भी भावरूप नहीं है लेकिन भाव से विलक्षण है अतएव उसका बाध होता है। तत्त्व विषयक बुद्धि अतत्त्व बुद्धि से प्रबल होती है। शुद्ध बुद्धिवाले साधन सहित सभी धर्मों का त्याग करके श्रवण मनन में लग जाते हैं। वैराग्य से कर्म त्याग होता है। वैराग्य के साथ अभ्यास चाहिए। यह बात गीता में भी भगवान ने अर्जुन को कही है। ऐसे मुमुक्षुओं का स्व महीम् प्रतिष्ठित कूटस्थ प्रत्यकतत्त्व साक्षात्कार में अधिकार है,बहिर्मुख पुरुष का अधिकार नहीं है। कर्म निरपेक्ष ज्ञान ही मोक्ष में हेतु है।

शिष्य - ज्ञेय विषय कैसा है ?

गुरु - ज्ञात विषय प्रमाण से भिन्न नहीं है और अज्ञात की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती। प्रमाण और अज्ञान से शून्य कोई काल नहीं है अतः प्रमाण और अज्ञान से रहित सिर्फ घट का भान नहीं होता। जब प्रमाण रहता है तभी ज्ञातव्य रूप से घट का भान होता है और जब प्रमाण नहीं रहता तभी अज्ञातत्त्व रूप से घट का भान होता है।

प्रमाण और उसके अभाव से शून्य कोई काल नहीं है*(*आज के सायन्स वाले कहते हैं कि काल प्रमाण के साथ यानी measure के साथ ही रहता है।उसीको माया कहते हैं।) और काल जड़ होने से स्वयंसिद्ध नहीं है। वह नित्य चैतन्य के अनुभव के द्वारा ही सिद्ध होता है। घट चिदभास्य है और प्रमाण भास्य है लेकिन अज्ञातत्व सर्वथा चिदभास्य और प्रमाण भास्य है किन्तु अज्ञातत्व सर्वथा चिदभास्य है। प्रमाण की प्रवृत्ति के बिना अज्ञातत्व की सिद्धि सभी की संमत है।किसी बालक से कोई पूछे कि ग्वाले को तू जनता है ? वह कहता है कि ग्वाले को मैं नहीं जानता। बालक और दूसरे लोग अपने अपने अज्ञातत्त्व को जानते हैं अतः अज्ञानत्व में किसीको शंका नहीं है। ज्ञातव्य के लिए प्रमाण चाहिए और वह प्रमाण सच्चा है कि नहीं यह निश्चित करना चाहिए। वेदांत प्रमाण प्रमाता की निवृत्ति करता है अतएव प्रमाता प्रमाण और प्रमेय-इन तीनों की निवृत्ति हो जाती है। जो अज्ञात्विक वस्तु है वह तात्विक वस्तु का अतिक्रमण नहीं कर सकती,जैसे रज्जुसर्प । यहाँ रज्जुसर्प रज्जु का अतिक्रमण नहीं कर सकता। कल्पित का तत्त्व ही अधिष्ठान है। अतएव कल्पित अतात्विक वस्तु है। अतः अधिष्ठान का ज्ञान होनेपर ज्ञेय की समाप्ति होती है।

अनुभव से अतिरिक्त स्थान में कोई घट आदि पदार्थ की सत्ता नहीं मानने में आती। उत्पत्ति भी अनुभव से मानने में मालूम पड़ती है और लय भी अनुभव स्वरुप में होती है,अतएव प्रमाता प्रमाण और प्रमेय अनुभव से उत्पन्न होते हैं।अनुभव में रहते हैं और अनुभव में लीन होते हैं।अनुभव से अतिरिक्त सत्ता प्रमाता आदि में नहीं है अतएव व्यतिरेक से असत कहलाती है अर्थात् अनुभव नहीं है,फिर भी कल्पित भेद मानकर आधार आधेय भाव की उत्पत्ति कहलाती है।अनुभव सच्चा है कि नहीं यह जानने में प्रमाण सच्चा है कि नहीं यह जानना चाहिए।

ज्ञात और अज्ञात काल से अतिरिक्त काल नहीं है। अतएव कालांतर अनुभव से अतिरिक्त विषय का प्रश्न नहीं बनता,सदा अनुभव व्यापी रहता है।

अब ऐसा विचार करे कि अज्ञात सत्ता चेतन है कि अचेतन ? 'मैं घट को नहीं जानता' ऐसा लगने से अज्ञातचेतन है ऐसा ऊपर ऊपर से मालूम पड़ता है तो भी यह विचार विरुद्ध है,क्योंकि अज्ञात अर्थ ब्रह्म और उसका कार्य घट आदि में अज्ञातता कैसे आती है ? घट आदि चेतन ब्रह्म में अध्यस्त हैं। अधिष्ठान के ज्ञान के बिना अध्यस्त का ज्ञान नहीं होता। रज्जु के बिना रज्जु में सर्प का अध्यास नहीं होता। रज्जु के ज्ञान से वह अध्यास निकल जाता है,अतएव ज्ञातव्य और अज्ञातव्य अधिष्ठानगत है लेकिन अध्यस्त में प्रतीत होते हैं।

तिरोधान वास्तविक प्रकाश का आवरण है। अतएव आत्मा का तिरोधान अज्ञान से होगा किन्तु जड़ का तिरोधान नहीं होगा। जड़ तो स्वयं अप्रकाशात्मक है। अतएव जड़ अनिर्वचनीय है,अथवा कल्पित है। अज्ञान दशा में सिर्फ आत्मा ही अज्ञात है,उसके ज्ञात होने पर दूसरा कुछ अज्ञात शेष नहीं रहता अतः ज्ञेय की परिसमाप्ति होती है।

प्रकरण -६

-------प्रातिभासिक सत्ता-----

शिष्य- जड़ क्या वस्तु है ?

गुरु - प्रमाण, प्रमेय आदि सभी जड़ पदार्थ अनुभव स्वरूप आत्मा में अज्ञान से कल्पित है। अनुभव से अतिरिक्त कोई पदार्थ की सत्ता नहीं है। घट आदि पदार्थों को सत् नहीं कह सकते,असत् भी नहीं कह सकते और सत् असत् भी नहीं कह सकते। यह बात वेदांत के सभी ग्रंथों में स्पष्ट समझाई हुई है। सत् हो तो आत्मा के सदृश्य अविनाशी हो,असत हो तो वह आकाश के फूल की नाईं मिलेगा नहीं। सत्त्व और असत्त्व परस्पर विरुद्ध धर्म होने से एक ही समय में एक धर्मी में नहीं रह सकते। सत् असत् से भिन्न जाति है नहीं। अतएव सीपी में रूपा की भाँति वह अनिर्वचनीय माना जाता है। अनिर्वचनीय वस्तु को प्रातिभासिक शरीर होता है। जब जहां तक प्रतीति तभीतक भान रहता है। अधिष्ठान तत्त्व का साक्षात्कार होने के बाद प्रतियमान अधिकरण में वह नहीं था,है नहीं और होगा नहीं ऐसा त्रैकालिक निषेध होता है। इस अभिप्राय से अनुभव एक ही है; अनुभव ही परमार्थ सत् है। अन्य कुछ भी नहीं है।अत: एक के ज्ञान से सर्व का ज्ञान होता है। सीपी में रूपा के ज्ञान से पहले उस रूपा की सत्ता पहले मानने में नहीं आती,ऐसे ही घट आदि की सत्ता भी प्रतीति से पहले मानने में नहीं आती। अतः घट आदि में अज्ञात सत्ता नहीं है। प्रातिभासिक वस्तु में ज्ञात सत्ता रहती है। अतः ज्ञान के ठीक होनेपर सब ठीक होता है।*(*आज के नये सायन्स वाले भी जब इलेक्ट्रोन अथवा परमाणु का तत्त्व क्या है उसकी जाँच करते हैं तभी यदि इलेक्ट्रोन की स्थिति मापनी हो तो उसे अमुक स्थानपर लाना चाहिए और वैसा माप पहले तैयार करना चाहिए। उस समय इलेक्ट्रोन की स्थिति दिखती है लेकिन गति नहीं दिखती। गति जानने के लिए लंबी तरंगे[long wave] का उपयोग करना पड़ता है लेकिन उस समय उसकी स्थिति जान नहीं सकते अतः इलेक्टोन अथवा परमाणु प्रातिभासिक बन जाता है। ऐसे ही हम जगत को जानने जाये तभी हमारे ज्ञान के अनुसार जगत दिखता है किन्तु वह सच्चा नहीं है;अतः ज्ञान को ठीक किये बिना जीव,जगत या ईश्वर का तत्त्व मिलेगा नहीं और ज्ञान ठीक होगा तभी सब ब्रह्ममय लगेगा।)

शिष्य-ज्ञान ठीक कैसे हो?

गुरु- प्रमाण जन्य वृत्यात्मक ज्ञान अज्ञान का निवर्तक है आत्मस्वरुप प्रकाश अज्ञान का साधक है,निवर्तक नहीं है,अतः आवरण भंग के लिए वृत्ति की जरूरत पड़ती है।

शिष्य-भ्रान्ति का कारण क्या है?

गुरु-नेत्र आदि दुष्ट सामग्री से उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान भ्रान्ति है तो भी भ्रांत पुरुष सीपी में रूपा के ज्ञान को प्रमाण मानता है।और जब तक यह रूपा नही है ऐसा बाध ज्ञान नही होता तभी तक रूपा का ज्ञान प्रमाण के रूप में रहता है।ऐसे ही सभी कल्पनाओं के अधिष्ठानभूत आत्मा का यथार्थ ज्ञान वेदान्त वाक्य द्वारा जब तक नही होता तभी तक जगत का ज्ञान भी प्रमाण माना जाता है। "नेह नानास्ति" यानी यहाँ कुछ भेद नही है ऐसे वाक्य से ज्ञान होनेपर द्वैत कल्पित है ऐसा तत्वज्ञानी मनुष्य जान सकता है।अतः रूपा आदि के ज्ञान में ,व्यवहार दशा में प्रमाण की प्रसिद्धि भ्रांत पुरुष की अपेक्षा से है।

भ्रान्ति ज्ञात बाध्य विषयक होती है,अर्थात् जिस ज्ञान का विषय बाधित होता है वह भ्रान्ति ज्ञान है। रूपा आदि से विशिष्ट चित् विषयक ज्ञान भ्रम है असत विषय रूपा की नाईं चिति में बाध्यत्व प्रसक्ति अनिवार्य है।

तत्त्वज्ञान होनेपर द्वैत भान के हेतुरूप अविद्या की निवृत्ति होने से द्वैत का भान नहीं रहता। "नानाइव" इस में इव शब्द से परामर्थिक द्वैत नहीं है किन्तु एक चंद्र में जैसे दो चंद्र की प्रतीति होती है वैसे एक सद् वस्तु में विकल्प है। द्वैत भान अज्ञान से होता है। जब सीपी में रूपा दिखता है तभी रूपा के अंश में नेत्र आदि प्रमाण नहीं है किन्तु आभास मात्र है तो भी वेदांत सिद्धांत को नहीं जानने वाले मूढ़ पुरुष से अपेक्षा से लोक में प्रमाण शब्द से व्यवहार होता है और उसकी प्रसिद्धि से रूपा आदि विषय ज्ञात अथवा अज्ञात कहलाते हैं। वस्तुतः इस प्रकार नेत्र आदि प्रमाण और उसE मालूम पड़नेवाला रूपा यथार्थ नहीं है। विचार करनेपर दोनों अज्ञान कल्पित है ऐसा सिद्ध होता है। इसीप्रकार जिनको ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार है ऐसे प्रबुद्ध पुरुष के चिदात्मा में अज्ञातत्त्व कदापि नहीं रहता।

सीपी में रूपा की कल्पना से पूर्व उसमें कल्पित रूपा नहीं है अतएव उसमें ज्ञातत्व धर्म या अज्ञातत्त्व धर्म कोई नहीं रहते। जहाँ धर्मी नहीं है वहां धर्म कैसे रहेगा। अत्यंत असत् वस्तु निर्धर्मक और निरूपाख्य होती है।

ज्ञातत्त्व और अज्ञातत्त्व आत्मधर्म है। रूपा में अज्ञातत्त्व नहीं है और ज्ञातत्त्व भी नहीं है किन्तु दोनों धर्म से शून्य जैसे रूपा है वैसे घट आदि भी वस्तुतः ज्ञात नहीं है और अज्ञात भी नहीं है किन्तु दोनों धर्मो से रहित सिर्फ कल्पित है ऐसा समझना चाहिए।

शिष्य - यदि सभी प्रमाणों का विषय ब्रह्म हो तो घट आदि चक्षु ज्ञान का विषय भी ब्रह्म होगा। ऐसी स्थिति में घट आदि के ज्ञान से मुक्ति मिलनी चाहिए,नहीं तो वेदांत ज्ञान से मुक्ति नहीं होगी।

गुरु - दोनों ज्ञान समान नहीं है। नेत्र आदि सामग्री से जन्म ब्रह्मज्ञान अविद्या कार्य विषयक होने से प्रमात्मक अथवा शुद्ध नहीं है। उपनिषद सामग्री जन्य वेदांत ज्ञान तत्त्वावेदक पारमार्थिक प्रमाण से जन्य होने से शुद्ध ब्रह्म ज्ञान है। अविद्या और उसके कार्य का विषय नहीं होने से जो वास्तविक ब्रह्मज्ञान कहलाता है वह अविद्या का विरोधी है। नेत्र आदि सामग्री से उत्पन्न होने वाला ज्ञान बंधन का हेतु है,उपनिषद जन्य ज्ञान मोक्ष का हेतु है। इसप्रकार वेदांत में व्यवस्था है। यद्यपि अज्ञान की निवृत्ति के लिए बुद्धि प्रवृत्त होती है तो भी उससे प्रतिकूल नेत्र आदि सामग्री उस बुद्धि में रूपा आदि विषय का तुरंत आरोप कर देती है। अत: अविद्या स्वयं कार्य विषयक हो जाती है इसलिए वैसी बुद्धि ही बंधन का हेतु है। सांख्य में प्रकृति का प्रथम परिणाम महत्तत्व है अर्थात् समष्टि बुद्धि है। उसमें फिर अहं भाव हुआ तो बंधन की शुरुआत हुई। वैराग्य और अभ्यास के साधन से यदि बुद्धि स्वच्छ हो जाय तो रूपा आदि का आरोप नहीं होने से वह बुद्धि मोक्ष के अनुकूल हो जाती है,नहीं तो बंध को दृढ़ करती है।

संक्षेप में, व्यवहारदशा में रूपा आदि की बुद्धि व्यावहारिक प्रमाण है,वास्तविक नहीं है। जड़ की सिद्धि ज्ञान के अधीन है। अज्ञात घट की सिद्धि अज्ञात अनुभव आत्मा में अध्यास मानने के बाद होती है। आत्मा में अध्यास मानने के बाद अधिष्ठानगत सत्ता की नाईं तदगत अज्ञान का भी अध्यस्त घट में भान हो सकता है। अतः घट आदि में अज्ञान मानना व्यर्थ है। जड़ में आवरण कार्य की-अर्थात् प्रकाश तिरोधान की-आवश्यकता भी नहीं है। स्वयं अप्रकाश स्वरुप होने से जड़ में प्रकाश की प्रशक्ति ही नहीं है।

शिष्य - अज्ञान का निवर्तक कौन है ?

गुरु -प्रमाण जन्य प्रकाश ही अज्ञान का निवर्तक है स्वरुप भूत नित्य प्रकाश नहीं क्योंकि वह प्रमाण का फल नहीं है।

शिष्य - यदि आत्मा का प्रकाश प्रमाण से माने तो घट आदि की नाईं आत्मा स्वयं प्रकाश रह नहीं सकेगा।

गुरु -समस्त प्रपंच का प्रकाशक आत्मा प्रमाण के बिना स्वयं प्रकाश है। सारांश यह है कि "अहं ब्रह्मास्मि" ज्ञान के पूर्वकाल में अज्ञान व्यवहित समस्त प्रमाण प्रमेय आदि प्रपंच का भासका चैतन्य आत्मा स्वयंप्रकाश एवं स्वयं सिद्ध है। लेकिन व्यवहार दशामें अज्ञान से आवृत्त होने से वस्तुतः स्वरूप से प्रतीत नहीं होता। वेदांत वाक्य के द्वारा प्रमाण ज्ञान होने से तदगत अज्ञान की निवृत्ति होती है। फिर मुक्ति फलक आत्मैक्य विज्ञान होता है। प्रमाण ज्ञान के बिना ब्रह्मस्वरूप ज्ञान अज्ञान का साधक होने से बाधक नहीं है।यह बात आगे बताई हुई है।

अज्ञान व्यवहित प्रमेय प्रकार का साधक यदि चित्त है तो अज्ञान का साधक भी चित्त है उसमें तो कहना ही क्या ? अज्ञान साधक क चित्त नहीं हो तो अज्ञान व्यवहित घट आदि प्रपंच का साधक भी चित्त नहीं होगा। अतः अज्ञान और तद्व्यवहित घट आदि का साधक चित्त है ऐसी बात स्वीकार करने योग्य है। अतएव प्रमाण ही अज्ञान का घातक है,स्वरुपभूत ज्ञान नहीं।

शिष्य -यदि तत्वज्ञान होने के बाद इन्द्रिय आदि का द्वारा रूपा आदि की कल्पना बनी रहेगी ,तो मुक्ति कैसे होगी ? द्वैत ज्ञान की निवृत्ति के बिना निष्प्रपंच आत्मा का सुखवस्थान नहीं हो सकेगा।

गुरु - रूपा आदि की कल्पना नहीं करने से मुक्ति होती है ऐसा किसी श्रुति में नहीं आता अतः तत्त्वज्ञानी रुपा आदि की कल्पना करे उसमें कोई गलत नहीं है,उससे मुक्ति में कोई बाधा नहीं आती। द्वैत का तत्त्वरूप से दर्शन निषिद्ध है। पूर्वसंस्कार की अनुवृत्ति से जीवन्मुक्त दशा में कल्पित द्वैत दर्शन की अनुमति है,ऐसा न हो तो जीवन मुक्त की शरीर यात्रा ही सिद्ध नहीं होगी। कल्पित द्वैत दर्शन मोक्ष में बाधक नहीं है,अविरोधी कल्पित द्वैत दर्शन का श्रुति समर्थन करती है।इसीलिए तत्त्व का उपदेश हो सकता है। कल्पना वस्तुतः मन का धर्म है। ऐसा दृढ़ निश्चय हो गया हो तो कल्पना से आत्मा को क्या हानि ? कोई हानि नहीं है। जबतक ठीक विवेक नहीं हुआ तभीतक मन के धर्म से आत्मा में कोई हानि नहीं है।

संक्षेप में ,अधिष्ठान कल्पित है और आरोप्य अवस्तु है अर्थात् मिथ्या है।

सभी ज्ञान के बाद कल्पित पदार्थ की अनुवृत्ति रहती है उसमें सेंकडों दृष्टांत है। मृगजल,आईने का प्रतिबिंब, पृथ्वी गोल है फिर भी सीधी दिखती है, सूर्य बड़ा है फिर भी छोटा दिखता है,वस्तुतः औपाधिक इस औपाधिक भ्रम की निवृत्ति उपाधि की निवृत्ति से होती है,और अपरोक्ष भ्रम की निवृत्ति अपरोक्ष तत्त्व साक्षात्कार से होती है। परोक्ष भ्रम परोक्ष यथार्थ ज्ञान से निवृत्त होता है।

दुःख की निवृत्ति भी सदा आत्मा में सिद्ध है तो भी अज्ञानवश आत्मा में दुःख मानकर उसकी आत्यंतिक निवृत्ति के लिए उसके निवर्तक उपाय की सतत जाँच होती है। जिनको आत्यंतिक दुःख निवृत्ति का उपाय चाहिए उनके लिए सिर्फ वेदांत ही शरण है।

आत्मा एक ही सत् होने से आत्मा का ज्ञान होने पर धर्म,अर्थ,काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थ की समाप्ति हो जाती है और आत्मा अज्ञात रहे तो सभी अनर्थों की प्राप्ति रहती है।

शिष्य - भेद और अभेद दोनों विरुद्ध धर्म वाले होने से एक में कैसे रह सकते हैं ?

गुरु- समसत्ताक भाव और अभाव में अवश्य विरोध है। व्यावहारिक सत्ताक भाव और अभाव एक आश्रय में नहीं रह सकते। भेद अभेद में भेद की व्यावहारिक सत्ता और अभेद की पारमार्थिक सत्ता मानने में कोई दोष नहीं है। जब व्यावहारिक सत्ता में प्रमाण और प्रमाता का विचार होता है तभी व्यावहारिक सत्ता प्रातिभासिक बन जाती है उसके बाद भ्रान्ति का पता चलता है भ्रान्ति से किसी पदार्थ की वास्तविक सत्ता नहीं बनती। एक व्यक्ति में सापेक्ष अनेक धर्मों का व्यवहार हो सकता है। एक ही देवदत्त व्यक्ति में पिता,पुत्र,जमाई,ससुर आदि व्यवहार से पितृत्व,पुत्रत्व,आदि अनेक धर्म मानने में आते हैं। एक व्यक्ति की अपेक्षा से धर्म विरोधी लगते हैं किन्तु धर्मान्तर की अपेक्षा से विरुद्ध नहीं है। किसी का पिता,किसीका पुत्र,किसीका जमाई आदि बन जाता है।उस उस की अपेक्षा से उस उस धर्मों का एक धर्मी में व्यवहार होता है स्वतः पिंड भी घट की अपेक्षा से प्राग भाव भी कहाता है।

शिष्य-यदि अद्वैत ब्रह्म ही एक तत्त्व है,तो उससे विपरीत कारण की बात क्यों कहने में आती है ? ब्रह्मसूत्र में तो अनेक स्थानपर पांचवी विभक्ति का उपयोग किया हुआ है और कारण की बात अनेक स्थानपर आती है।दूसरे सूत्र में भी कारण की बात आती है।

गुरु -समस्त जगत का कारण,नित्य,शुद्ध,बुद्ध,मुक्त, स्वरूप स्वयंप्रकाश एवम् प्रत्यक् रूप ब्रह्मात्मतत्त्व का बोध होने के लिए कार्य कारण का विचार होता है।ऐसी प्रकिया से ऐसा बोध होता है। तात्पर्य यह है कि अद्वैत ब्रह्म का अनुभव अद्वैत ज्ञान के बिना नहीं होता। अद्वैत ज्ञान में घट,पट,द्वैत का सत्यत्व ग्रहण करवानेवाला प्रत्यक्ष बाधक है। अतएव ऐसा विचार करना पड़ता है कि श्रुति में उक्त आत्मैक्य ज्ञान कैसे हो ? और प्रमाण प्रमेय के बिना लौकिक व्यवस्था भी व्यवहार दशा में बनी रहे,ऐसी जिज्ञासा से श्रुति में गहराई से अवलोकन करने से प्रतित होता है कि श्रुति में जो उपाय बतलाये हैं वे बराबर है। श्रुति बड़े शब्द के साथ कहती है कि

वाचार म्भणं विकारो नामधेयं मृतिकेत्येव सत्यम्

अर्थात मिट्टी में से जितने घट,मटकी,चंबू आदि कार्य बनते हैं वे सभी मिट्टी ही हैं,उससे अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं है। इसीप्रकार सुवर्ण के गहने सुवर्ण से भिन्न नही है,सिर्फ आकार से भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं। फिर भी सुवर्ण की नाई स्थायी नहीं रहते। अतः वह सिर्फ वाणी का विलास है। थोडा समय उनका व्यवहार चलता है। मिट्टी सुवर्ण आदि का व्यवहार उसके कार्यन्तर में अनुवृत्त रहता है अतएव उस कार्य की अपेक्षा से सत्य कहलाता है। मिटटी कारण का उपलक्षण है। अर्थात् कार्य की अपेक्षा से कारण परमार्थ सत है। अतः एक के ज्ञान से सभी का ज्ञान होता है ऐसी श्रुति की प्रतिज्ञा भी सिद्ध हो सकती है। यदि कारण से वस्तुतः कार्य अलग माना जाय तो कारण के ज्ञान से उससे अतिरिक्त कार्य का ज्ञान कैसे हो सकता है ? जो कारण को सत् मानते हैं और कार्य को उत्पत्ति दे पहले असत् कहते हैं उनके मत में कार्य और कारण का अभेद नहीं बन सकता इसलिए वे कार्य कारण का भेद मानते हैं और उत्पत्ति के बाद कार्य को सत् कहते हैं। उनके मत सर्वं खल्विदं ब्रह्म,नेह नानास्ति किंचन,तत्त्वमसि,सर्वमात्मेवाभूत आदि सेंकडों श्रुति से विरुद्ध है। सभी श्रुतियों के उपक्रम,उपसंहार आदि देखनेपर अद्वैत में तात्पर्य है। जहाँ ऐसा कहा है कि उसमें से आकाश उत्पन्न हुआ ऐसी श्रुतियों का वास्तिक तात्पर्य भी उत्पत्ति के प्रतिपादन में नहीं है,लेकिन अध्यारोप अपवाद के न्याय से,कारण से अतिरिक्त कार्य नहीं है,ऐसे बोध के द्वारा अद्वैत में ही परम तात्पर्य है। ब्रह्मसूत्र में जहाँ कहा है कि सब ब्रह्म में से उत्पन्न हुआ है,उसीमें स्थित है और उसी में लय होता है। वहाँ भी तात्पर्य यह है कि ब्रह्म समस्त संसार का उपादान और निमित्त दोनों कारण है,अतएव कोई कहे कि ईश्वर सिर्फ निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं है तो यह श्रुति विरुद्ध है।

संक्षेप में,इस समस्त संसार में सिर्फ परम ब्रह्म की सत्ता है। कारन या कार्य मात्र का कारण तत्त्व होता है। सभी का कारण ब्रह्म है। अतः संसार में ब्रह्म की सत्ता मानी हुई है। योगसूत्र में भी कहा है कि "**द्दष्टा दशिमात्र:शिद्धोऽपि प्रत्नयानुपश्यः**" इससे भी मालूम पड़ता है कि परमात्मा सिर्फ ज्ञान स्वरुप है।

शिष्य - एक कारण से कोई कार्य नहीं होता,व्यवहार में समवायी,असमवायी और निमित्त इन तीन कारणों से कार्यों की उत्पत्ति दिखती है एवम् सहकारी कारण भी अनेक प्रकार का दिखता है।

गुरु - लौकिक कारण में पूर्ण कार्य उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं है इसलिए सहकारी आदि के द्वारा कारण में पूर्ण शक्ति लाने के लिए अन्य की अपेक्षा रहती है। ब्रह्म सभी कार्यों की उत्पत्ति के लिए परिपूर्ण है,अपूर्ण नहीं है,अतः उसको कोई सहकारी कारण की अपेक्षा नहीं है,इसलिए वह सत्य संकल्प कहलाता है।

सभी लौकिक कार्य कारण से अभिन्न है। कारण की अवस्था विशेष ही कार्य है उससे अतिरिक्त नहीं है। अतः तंतु से भिन्न पट नहीं है, ऐसा कह सकते हैं। लौकिक कारण भी ब्रह्म कार्य ही है,वह भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है,'सर्वम् खल्विदं ब्रह्म' आदि श्रुतियों से भी यही सिद्धांत निकलता है। और 'नेति नेति' आदि श्रुतियों से सभी कार्य कारण भावरूप द्वैत का निषेध होता है और द्वैत के अभाव से उपलक्षित आत्मस्वरूप का ज्ञान ही मोक्ष में उपयोगी है।

शिष्य - यदि नेति नेति ऐसे वाक्य यानी द्वैत का निषेधज्ञान मोक्ष का कारण हो तो वही ज्ञान मुमुक्षुओं को पाने योग्य है,ब्रह्म पाने योग्य नहीं है।

गुरु - बराबर है,द्वैत के अभाव से उपलक्षित ब्रह्म स्वरुप सिर्फ विषयक निर्विकल्प ज्ञान होने में द्वैत निषेधज्ञान उपयोगी है,लेकिन वह उपादेय नहीं है। फल की प्राप्ति के बाद वह मिथ्या होने से त्याज्य है क्योंकि अतोडन्यदार्तम् "**दितीयद्वै भयं भयति,यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पष्यति**" आदि श्रुतियों से जिसका निषेध होता है वह त्याज्य है,उपादेय सिर्फ ब्रह्मात्मेक्य मात्र है।

शिष्य- द्वैत निषेध का भी निषेध करने से पुनः द्वैत उत्पन्न होगा। निषेधय रहेगा तो भी अद्वैत सिद्ध होगा नहीं।

गुरु - अभाव रहे तो भी भावाद्वैत सिद्धि में कोई आपत्ति नहीं है अथवा उक्त निषेध का अधिकरण ब्रह्म है। अतः उक्त अभाव ब्रह्म स्वरुप ही है,अतिरिक्त नहीं है।

शिष्य - द्वैत निषेधबोध और सन्मात्र बोध इन दोनों में कौनसा बोध उपादेय है और कौनसा त्याज्य है ?

गुरु - दोनों त्याज्य है, क्योंकि ब्रह्म भिन्न प्रपंच जैसे अद्वैत का विरोधी है और प्रातिभासिक होने से त्याज्य है,मुमुक्षुओं को उपादेय नहीं है एवं द्वैत-अभाव से उपलक्षित चिन्मात्रात्मक विषयक निर्विकल्पक अंतिम चित्तवृत्ति विशेष बोध भी पूर्वोक्त हेतु से त्याज्य है,उपादेय नहीं है। जबतक ब्रह्मभावापत्ति नहीं हुई तभीतक दोनों उपादेय है,फिर दोनों त्याज्य हैं। नदी के उस पार पहुँचने के बाद नाँव की जरुरत नहीं पड़ती,इस न्याय से फलसिद्धि होने के बाद इसका उपाय त्याज्य है। आम में कोई अंश यानी रस ग्राह्य है और गुठली त्याज्य है ऐसे ही जगत में कोई अंश त्याज्य और कोई अंश ग्राह्य है ऐसी व्यवस्था नहीं बन सकती,अर्थात जगत का कोई अंश बोध का उपयोगी होने से ग्राह्य है और अमुक अंश प्रतिकूल होने से त्याज्य है ऐसी व्यवस्था जगत में नहीं हो सकती।

शिष्य - ऐसा कैसे ? जैसे आम साकार है वैसे जगत भी साकार है अतः अंशभेद से संसार भी त्याज्य और ग्राह्य हो सकता है।

शिष्य- तो फिर जगत दिखता क्यों है ? विषय के बिना विषय का ज्ञान नहीं होता।

गुरु- नहीं, यदि जगत है ही नहीं तो कौए के दांत गिनने के सदृश्य उसके साकार निराकार का विचार व्यर्थ है।

गुरु - रस्सी में सर्प दिखता है तो क्या रस्सी वस्तुतः सर्प है ? नहीं। ऐसा ज्ञान तो मिथ्याज्ञान कल्पित वस्तु विषयक होता है,अतः उसका विषय प्रातिभासिक होता है,पारमार्थिक नहीं होता। उसीप्रकार जगत का ज्ञान भी भ्रांतिवाला है।इसलिए वह जगत की सत्ता का साधक नहीं होता।

शिष्य - जिस ज्ञान का विषय बाधित होता है, वह ज्ञान भ्रान्ति ज्ञान है। दृष्टान्त में रस्सी का ज्ञान बाधक है और सर्प का ज्ञान बाध्य है इसलिए सर्प का ज्ञान मिथ्या माना जाता है।भ्रांतिज्ञान विषय साधक नहीं होता। बाधक ज्ञान आने के बाद भ्रान्ति ज्ञान विषय का अवभास नहीं रहता। यहाँ तो संसार का बाधक ज्ञान हो तो भी संसार की अनुवृत्ति रहती है। और संसार का ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है तो संसार के ज्ञान को भ्रान्ति कैसे कह सकते है ?

गुरु - संसार विषयक ज्ञान का बाधक ज्ञान "नेह नानास्ति किंचन" आदि श्रुति का ज्ञान स्पष्ट है। और सिर्फ अनात्मज्ञ को संसार की अनुवृत्ति उत्तरोत्तर होती है, आत्मज्ञ को नहीं होती। जिनको सर्व आत्ममय ही गया है वह किससे किसको देखे,ऐसी श्रुतिओं से ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि आत्मज्ञानीओं को परमार्थतः प्रपंच भासता है ऐसा नहीं कह सकते।अपरोक्ष भ्रम अपरोक्ष प्रमा से निवृत्त होता है,परोक्ष प्रमा से नहीं । अतएव श्रुति के द्वारा संसारियों को परोक्ष प्रमा होनेपर भी संसार का अपरोक्ष भ्रम निवृत्त नहीं होता। श्रवण मनन के द्वारा आत्मा यथात्म्य ज्ञान होने के बाद पहले जैसी संसार की अनुवृत्ति नहीं रहती। कदाचित बलवान संस्कारवश संसार प्रतीत हो तो मिथ्यारूप से प्रतीत होगा,सत्यरूप से कदाचित प्रतीत नहीं होगा।

शिष्य- तो फिर संसार में क्या कुछ ग्रहण या त्याग नहीं करना है?

गुरु - अवश्य है,लेकिन अंशभेद से नहीं है। पुरुषभेद से भेद है।

शिष्य - कैसे ?

गुरु - जिनको आत्मा यथार्थ ज्ञान नहीं होता उनको संसार के फल में प्रेम होता है,इसलिए उन पुरुषों के लिए जगत सर्वथा ग्रहण करने योग्य है,और जिसको आत्मज्ञान हुआ है अथवा उसके साधनभूत विवेक ज्ञान जिनमें है उनके लिए जगत सर्वथा त्याज्य है। वस्तुतः संसार अविद्या से कल्पित है,वास्तविक नहीं है और कल्पित पदार्थ सावयव (आकारवाला) नहीं होता। इसलिए उसमें अमुक अंश ग्राह्य और अमुक अंश त्याज्य है ऐसा नहीं हो सकेगा। आप ही बताओ कि कल्पित सर्प में कौनसा अंश त्याज्य है और कौनसा उपादेय है ? उसको त्याज्य कहो या ग्राह्य कहो,जैसे भ्रांत पुरुष को सीपी का रूपा उपादेय है और अभ्रांत विवेकी पुरुष को अनुपादेय है उसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषों के भेद से संसार हेय और उपादेय है,अंशभेद से नहीं ऐसा निर्णय हुआ।

शिष्य - संसार में अंशभेद की प्रतीति होती तो है।

गुरु - रज्जु सर्प में भी पूंछ,मस्तक आदि अंशों की प्रतीति होती है लेकिन विषैला मस्तक छोड़कर बिना विष की पूंछ का कोई ग्रहण नहीं करता,क्योंकि पुंछ का आखरी भाग भी विषैले सर्प का ही अंग है। पुंछ के भाग का ग्रहण करने में संभव है कि कदाचित मस्तक के भाग का भी शरीर के साथ संबंध हो जाय और उससे मृत्यु हो।यह अनिष्ट है। इससे ऐसा हुआ कि परंपरा से पुंछ भी अनिष्ट साधन होने से सर्वथा उपेक्ष्य है। ऐसे ही संसार को भी समझो। विवेकी पुरुष साक्षात् अथवा परंपरा से संपूर्ण संसार को अनिष्ट फलप्रद समझकर उसका सर्वथा त्याग करते हैं। अथवा जैसे सर्प के अधिष्ठानभूत रज्जु को परमार्थ सत् समझते हैं वैसे ही प्रपंच के अधिष्ठानभूत परब्रह्म ही परमार्थ सत् होने से उपादेय हैऔर प्रपंच तो रज्जुसर्प की नाईं प्रातिभासिक होने से हेय है ऐसा समझते हैं।

सीपी में दिखनेवाले रूपा की नाई ब्रह्म में जगत का रहना भ्रमात्मक है। अतः उसका त्याग करके ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ न मानकर "**अहम् ब्रह्मास्मि**" इस विवेक से स्वयं पूर्ण हो जाता है। अतएव विवेकी पुरुष के चित्त के भेद से संसार में हेय और उपादेय का बोध व्यवस्थित है। अर्थात् अविवेकियों को संसार उपादेय प्रतीत होता है और विवेकी पुरुष को सर्वथा और सर्वात्म के हेय प्रतीत होता है। वस्तुतः कल्पित वस्तुमें अंश पारमार्थिक नहीं होता,किन्तु उसका अधिष्ठान ही पारमार्थिक रहता है।यह बात रज्जुसर्प के दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाती है। अतएव सभी प्रातिभासिक वस्तुएं रज्जुसर्प की नाई इष्ट साधन नहीं होती ऐसा तात्पर्य समझना है। 'नेति नेति'आदि श्रुति से द्वैत निषेध का ज्ञान अंत तक द्वैत को हेय अर्थात् त्याज्य बताते हैं अतः वह द्वैतज्ञान भी प्रपंच की नाई मुख्य उपादेय नहीं है। जिसका चित्त द्वैत में अत्यंत आसक्त है उसके चित्त को दृव्य विषय से विमुख करने के लिए दृष्य का निषेध एक साधन है,इसलिए दूसरे साधनों की अपेक्षा से वह उत्तम साधन माना जाता है। जब तक चित्त संसार की ओर जायेगा तभीतक श्रवण आदि वास्तविक साधनों का यथार्थ अनुष्ठान नहीं हो सकेगा। कठोपनिषद में कहा है कि इन्द्रियों को उत्पन्न करके ब्रह्मा ने ऐसा आदेश दिया है कि "तुम्हारी प्रकृति ही ऐसी है कि तुम आत्मा से भिन्न बाहर के विषयों में भटको" इसलिए इन्द्रियों की बहिर्मुख प्रवृत्ति होती है। विशेष यत्न हो तो अंतर्मुख प्रवृत्ति हो इससे इन्द्रियों के विहार प्रदेश का निषेध होनेपर यानी उसको कल्पित और प्रातिभासिक मानने से इन्द्रियां परवश होकर अंतरंग साधन के लिए प्रवृत्त होती हैं।बहार के विषयों के निषेध के द्वारा जबतक इंद्रीयों को बाह्य विषयों की ओर जाते हुए रोक नहीं सके और वह आत्ममत्र अवशिष्ट नहीं रहे तभीतक निषेध का व्यापार जरुरी है।निषेध की श्रुति जिज्ञासु को समझाती है कि निषेध कल्पित है अथवा प्रतिभासिक है तो फिर कहाँ ले जाओगे ? ऐसे बारबार बोध की जरुरत है,अतः निषेध की जरूरत है। वस्तुतः मुमुक्षुओं को निषेध ग्रहण करने जैसा है इसलिए नहीं कहा क्योंकि असलमें वह भी संसार के अंदर होने से अनुपादेय है, उसमें उपादेय व्यवहार गौण है।

शिष्य - ऐसा ठीक है लेकिन कार्य कारण के सत्व और असत्व के विचार क्या उपयोगी है ?

गुरु - जिस चित्त में घट,पट आदि वस्तुओं का भेद दिखता है उसमें अद्वैत वस्तु के में प्रवेश के लिए कार्य कारण के सत्व और असत्व के विचार जरुरी है। प्रत्यक्ष प्रमाण संपूर्ण विश्व को सच्चा बताता है और 'नेह नानास्ति' ऐसी श्रुति द्वैत भेद को मिथ्या कहती है और अद्वैत आत्म तत्त्व को परमार्थ सत् कहती है। ऐसे दो प्रमाणों का वाद सुनकर पुरुष का दुराग्रही चित्त प्रत्यक्ष प्रमाण को सच्चा मानता है,दुराग्रही पुरुष सदुपदेश को असत मानता है और असत् उपदेश को सत् मानता है। ऐसी परिस्थिति में जबतक दुराग्रह दूर नहीं हो तभीतक सदुपदेश का श्रवण ही नहीं हो सकता,अतः 'यक्षानुरूपोबलि' के न्याय के अनुसार अज्ञानरूपी दुराग्रह को दूर करने के लिए कार्य के सत्व-असत्व का विचार जरुरी है।ऐसे विचार के अनुकूल हो ऐसे अनुमान आदि प्रमाण के द्वारा श्रुति के अर्थ का संवाद होनेपर चित्त का दुराग्रह दूर होता है। फिर शुद्ध हुआ चित्त अद्वैतात्म वस्तु में प्रवेश करता है।

त्वम् पदार्थ जीव के स्वरुप का लक्षण बताता है और तत् पदार्थ ब्रह्म का स्वरुप समझाता है।उसके साथ ही द्वैत का निषेध होता है,शेष ब्रह्मात्म भाव की एकता जानकर जिज्ञासु स्वयं पूर्ण ब्रह्म स्वरुप होता है,यही श्रुति के हृदय का भाव है। तत्त्वमसि वाक्य से जीव ब्रह्म का अभेद का प्रतिपादन होता है,लेकिन प्रत्यक्ष प्रमाण जीव को कर्ता भोक्ता सुखी दुःखी आदि संसारी धर्मों से लिप्त मानता है अतः पदार्थ शोधन के बिना अभेद नहीं हो सकता। पदार्थ शोधन के बाद सिर्फ एक आत्मा रहता है,और द्वैत प्रातिभासिक होने से वस्तुरूप से रहता नहीं है। आत्मा का निषेध नहीं बनता क्योंकि असाक्षिक निषेध नहीं बनता। और आत्मा अनेक भी नहीं है,कि एक आत्मा के निषेध का साक्षी अन्य आत्मा हो सके।

'नाडन्यो तोड़स्ति दृष्टा' ऐसी श्रुति अन्य आत्मा का निरास स्फुट है।

उदासिन ब्रह्म कारण नहीं है और कार्य भी नहीं है।

अज्ञानी की दृष्टि से ब्रह्म में (कल्पित) अज्ञान रहता है और वह अज्ञान ही परिणाम को प्राप्त होता है। जब मिट्टी के रूप में दिखता है तभी घड़े के रूप में नहीं दिखता। जब मिटटी का पिंड होता है तभी उसे घट प्रगभाव कहते हैं। घटाकार होता है तभी उसे घट कहते हैं इसीप्रकार से जितने भी कार्य देखनेमें आते हैं वे सभी वस्तुतः अविद्या के परिणाम हैं। जगत तो स्वयं नहीं कहता है कि खुद कैसा है। हमारा ज्ञान ही हमारा जगत और ज्ञान सच्चा नहीं हो तभीतक अज्ञान कहलाता है। उसका परिणाम हुआ करता है। उस दशा में अज्ञानरूपी प्रमाण,जगतरूपी प्रमेय और जगत को देखनेवाला प्रमाता ये तीनों प्रतिभासिक हैं। जगत को देखनेवाला सच्चा नहीं है। जैसे सीपी में रूपा को देखनेवाला सच्चा नहीं है वैसे ब्रह्म में जगत को देखनेवाला सच्चा नहीं है।अतः देखनेवाला वास्तवमें अपने वहम को देखता है किन्तु ऐसा मानता है कि मेरा देखा हुआ जगत सच्चा है।

शिष्य - प्रातिभासिक सत्ता का स्पष्टीकरण अधिक हो तो अच्छा।

गुरु - (१) प्रातिभासिक वस्तु स्वप्न की नाईं सच्ची नहीं होती।

(२) प्रातिभासिक वस्तु दृष्टा से अलग नहीं होती।

(३) प्रातिभासिक वस्तु अर्थकारी हो सकती है उसके लिए श्रीमद् भागवत में एकादश स्कंध में निम्नलिखित वर्णन है ;-

छाया ,प्रतिध्वनि,और आभास असत होनेपर भी (सत्यता ही दिखने से) जैसे अर्थकारी होती है वैसे देह आदि की उपाधि मृत्यु पर्यन्त अनेक भय को देती है.११-२८-४

(४) There are not degrees of truth. जैसे सर्प के ज्ञान से रज्जु का ज्ञान अधिक सच्चा नहीं है क्योंकि प्रथम ज्ञान झूठा है वैसे चिड़िया के ज्ञान से मनुष्य का ज्ञान अधिक सच्चा नहीं है,क्योंकि दोनों मिथ्या है।

(५) मिथ्या यानी बिलकुल झूठा नहीं किन्तु जो झूठा हो फिर भी सच्चा जैसा दिखे और अन्य दशा में उसका बाध हो।

(६) कोई कहे कि जगत सभी को एक जैसा दिखता है तो पूछनेवाले से कहो कि तुझको जैसा दिखता है वैसा एक कागजपर लिख और हस्ताक्षर कर और फिर जाँच कर कि ऐसा दूसरे को दिखता है या नहीं ?

(७) प्रातिभासिक वस्तु झूठी होने से उसका ज्ञान रखने की जरूरत नहीं है।

(८) प्रातिभासिक वस्तु की उत्पत्ति स्थिति और लय नहीं होते।

(९) प्रातिभासिक वस्तु की आंशिक निवृत्ति नहीं होती । जैसे स्वप्न में एक अंश की निवृत्ति नहीं होती और सीपी में दिखनेवाले रूपा में एक अंश की निवृत्ति नहीं होती वैसे प्रातिभासिक वस्तु निराकार होने से उसमें अंश अंशिभाव नहीं बनता।

(१०) प्रातिभासिक वस्तु की निवृत्ति समकाल में होती है। मृगजल धीरे धीरे नहीं सूखता वैसे कल्पित जगत धीरे धीरे अदृश्य नहीं होता।

(११) ज्ञानकाल में प्रातिभासिक वस्तु का त्रैकालिक निषेध होता है। जो अज्ञानकाल में झूठा है वह ज्ञानकाल में भी नहीं रह सकता।

(१२) प्रातिभासिक वस्तु अधिष्ठान के साथ रहे उससे द्वैत नहीं होता। आयने में दो मुह दिखने से वास्तवमें दो मुंह नहीं हो जाते।

(१३) वस्तु एक होने से ज्ञानी को शरीर में अहं भाव नहीं है और जगत में इदं भाव नहीं है।

(१४) जैसे ठूंठ में दिखनेवाले पुरुषमें दो ज्ञान की सामग्री नहीं है वैसे सभी प्रातिभासिक घटनाओं में दो ज्ञान की सामग्री नहीं है।

(१५) स्वप्न स्वप्न के समय व्यावहारिक है। जागने के बाद प्रातिभासिक लगता है। प्रातिभासिक लगने के बाद सबकुछ मैं ही था ऐसा मानना आसान है।

(१६) प्रातिभासिक वस्तु में सिर्फ ज्ञातसत्ता रहती है अर्थात् उसका ज्ञान हो तभी अर्थकारी होती है,अज्ञात रज्जु-सर्प से भय नहीं होता।

(१७) कल्पित वस्तु का उसके अधिष्ठान के साथ ऐक्य नहीं होता,क्योंकि कल्पित का अस्तित्व अधिष्ठान के अस्तित्त्व से वस्तुतः अन्य नहीं है किन्तु अभिन्न है। और ज्ञान होता है तभी कल्पित का अस्तित्व बाधित होता है इससे दोनों का ऐक्य नहीं होता,अतः ब्रह्म और जगत की एकता नहीं होती।

प्रकरण- ७

वहम की औषधी

शिष्य- यदि चेतनात्मक जगत और अचेतनात्मक जगत सब मायिक हो तो बंध और मोक्ष की व्यवस्था कैसे हो सकेगी ? यदि बंध मायिक हो तो मोक्ष भी मायिक हो जायेगा। विद्वान् लोग भी कहते हैं कि संसार का सुख मायिक है अर्थात् वह सिर्फ सुख का आभासमात्र है और मोक्ष का सुख स्वाभाविक और परमार्थ सत् है ऐसा सिद्धान्त भी खंडित हो जायेगा अतः जीवों में परस्पर भेद और जीव जीव ब्रह्म में भेद मानना जरुरी है, उसके अनुसार कारण को सच्चा मानना चाहिए।

गुरु - जीव अथवा चिदाभास ब्रह्म का चित्प्रतिबिंब है,वह चिदाभास अज्ञान और उसका कार्य शरीर इन्द्रिय और अंतःकरण में प्रविष्ट होकर अनेक देव,मनुष्य,पशु,पक्षी आदि शरीर के अभिमानी कहलाते हैं।जैसे एक ही आकाश घड़ा,सुराई,आदि उपाधि से घटाकाश, सुराई-आकाश आदि आदि रूप से भिन्न भिन्न शब्दों के द्वारा व्यवहार होता है,जैसे उस उस शरीर के अभिमानी चिदाभास बद्ध कहाते हैं। एक चिदाभास की उपाधि दूर होनेपर अथवा उसकी मुक्ति होनेपर दूसरे चिदभास (जीव) मुक्त नहीं होते। अतः वह बद्ध कहलाते हैं इसप्रकार बंध और मोक्ष की व्यवस्था बन सकती है।अतएव कारणत्व भी तात्त्विक नहीं है।

चैतन्य के अधिष्ठान वाले अंतःकरण में चैतन्य का जो प्रतिबिंब है वह चिदाभास होने से कल्पित है। उसमें आभास के द्वारा कर्तापना ,भोक्तापना,सुख दुःख आदि अनेक वहमों का आरोपण होता है। अज्ञान से साक्षी उन उन आरोपित धर्मों को अपनेमें वास्तविक मान लेता है और फिर उसमें से छटकने को इच्छा करता है। जल में वस्तुतः ठंडापने का गुण है लेकिन अग्नि के संयोग से जल में आरोपित उष्णता की प्रतीति होती है। ऐसे ही सुख दुःख आदि से युक्त बुद्धि में प्रतिबिंबित चिदाभास बुद्धि के अनिर्वचनीय तादात्म्यपने से सुख दुःख पाता है। उसीप्रकार बुद्धि में साक्षी अधिष्ठान चैतन्य भी अपने स्वरुप के अज्ञान से मानो बुद्धि का आश्रय करता हो ऐसा मालूम पड़ता है। वास्तविक दुःख आदि जीव में नहीं है। जाग्रत का दुःख क्षणभर में गाढ़ निंद्रा में चला जाता है,फिर भी अपने स्वरुप के अज्ञान से जाग्रत में जीव दुःख आदि का आश्रय करता है। आभास की अनेकता से जीव में औपाधिक अनेकता प्रतीत होती है। अंगारे में रहनेवाले अग्नि के ताप से उसके समीप रहनेवाले घट के जल आदि में जैसे ताप के आभास आभास की आरोपित उष्णता प्रतीत होती है ऐसे ही सुख दुःख आदि विशिष्ट बुद्धि के संबंध से उसमें रहा हुआ चिदाभास भी सुख दुःख आदि से दबा हुआ हो वैसा प्रतीत होता है। यदि चिदाभास में वास्तविक सुख आदि नहीं है तो साक्षी में उसकी वास्तविक सत्ता की संभावना कैसे रहेगी ? मैले आईने में अपना मैला मुंह देखकर मनुष्य कहता है कि मेरा मुंह आज मैला क्यों दिखता है ? वास्तव में आईना मैला है,वैसा ही माया के विषय में समझना है।

शिष्य - जैन और न्याय वाले ऐसा मानते हैं कि सुख दुःख आत्मा को होते हैं, जड़ को सुखदुःख नहीं होते।

गुरु - यदि चेतन को सुखदुःख होते हो तो नींद में तुरंत क्यों चले जाते हैं ? आत्मतत्त्व की अज्ञानदशा में जो जो प्रतीति होती हैं वह वस्तुतत्त्व की भासक नहीं होती। निंद्रा के समय जो स्वप्न दिखता है वह यथार्थ वस्तु विषयक नहीं होता किन्तु कल्पित वस्तु विषयक होता है ऐसे ही जाग्रत काल में जो घट पट आदि विषयों के अवगाहन करानेवाले प्रत्यय है वे भी स्वप्न प्रत्यय की नाईं परमार्थ विषयक नहीं है।

शिष्य- स्वप्न तो जाग्रत होनेपर बाधित हो जाता है इसलिए वह कल्पित माना जाता है,जाग्रत में तो सब चालू रहता है।

गुरु - उस समय का बाध-अभाव तो स्वप्न में और जाग्रत में समान है क्योंकी स्वप्न के समय स्वप्न जाग्रत ही है। और जाग्रत प्रत्यय का बाध नहीं होता ऐसा भी नहीं है। जब आत्मतत्त्व के ज्ञान से जगत का उपादान अज्ञान दूर होता है तभी जगत के विषयों का भान नहीं रहता। श्रुति भी कहती है कि 'यत्र त्वस्य सर्वामत्मैंवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' अतएव अज्ञानकाल में प्रत्यक्ष जगत अबाधित होते हुए भी द्वैत परमार्थ सत् नहीं है ऐसा सिद्धांत सच्चा नहीं है अतः बाकी सब वहम निकाल देने चाहिए।

शिष्य- स्वप्न ज्ञान का विषय शेर मिथ्या है,किन्तु जाग्रत का शेर का ज्ञान तो स्वरुप से सत् है और भय का कारण ज्ञान है।

गुरु - नहीं, सिर्फ ज्ञान भय का कारण नहीं है किन्तु शेर से अनुरंजीत ज्ञान भय का कारण है;अतएव असत भी सत् की नाईं कारण बनता है। शेरनी को शेर भयरूप नहीं होता किन्तु सुखरूप होता है। अतएव जैसा मायावाला ज्ञान हो वैसा फल उत्पन्न होता है।

शिष्य - अव्याकृत माया और अंतर्यामी में क्या अंतर है ?

गुरु - उपाधि प्रधान से अव्याकृत कहलाता है। अन्तर्यामी उपहित प्रधान है। अथवा विशिष्टब्रह्म अव्याकृत कहलाता है और उपलक्षित ब्रह्म अन्तर्यमी कहलाता है।

शिष्य - काल कब उत्पन्न हुआ ?

गुरु - संवत्सर के निर्माता प्रजापति से पूर्व काल नहीं है अर्थात प्रजापति स्वयं ही सूर्य रूप है। प्रजापति से पहले सूर्य नहीं थे। सूर्य की गति से संवत्सर बनता है। बारह राशियों में सूर्य के भ्रमण से संवत्सर बनता है। प्रजापति नहीं हो तो आदित्य नहीं बने और आदित्य नहीं बने तो संवत्सर नहीं बने।

यह सृष्टि दृष्टिवाद की रीत है वास्तवमें काल प्रमाण के आधीन है और प्रमाण प्रमाता के आधीन है, यह दृष्टि सृष्टिवाद की रीत है।

शिष्य- मुझमें ऐसी शंका उत्पन्न होती है कि ज्ञानी यदि ऐसी बातों में पड़े तो उसका पालन पोषण कैसे हो ?

गुरु - विद्या के सामर्थ्य से पालन करनेवाले धनवान अथवा कार्यकर्ता लोग उसके लिए तत्पर हो जाते हैं जब भरतजी सैन्य सहित महर्षि भरद्वाज के आश्रम आये तभी ऐसी विद्या के सामर्थ्य से ही उन्होंने उतने लोगों का स्वागत किया था। उपासक अपनी उपासना के बल से विराट समझने लगते हैं तो ज्ञानी पुरुष का तो कहना ही क्या ?

शिष्य- मन का फल क्या है ?

गुरु - मनन और निदिध्यासन चित्त की शुद्धि के लिए हैं,अशुद्ध चित्त में वाक्य के द्वारा ज्ञान नहीं हो सकता।

शिष्य - अशुद्ध चित्त किसे कहना ?

गुरु - परिच्छिन्न भाव का अभिमान हो उसे अशुद्ध चित्त अथवा आसुरभाव कहते हैं। एक धर्मी में परिच्छिन्नत्व और अपरिच्छिन्नत्व ऐसे दो परस्पर विरुद्ध धर्म नहीँ रह सकते। स्थाणु है या पुरुष है ? इस बात का जबतक निश्चय नहीं हुआ तभीतक शंका रहती है। अपरिच्छिन्नत्व का साक्षात्कार होनेपर परिच्छिन्नत्व की भ्रान्ति मिट जाती है,कल्पित धर्म से अधिष्ठान में वास्तविक दोष का संभव नहीं है और कल्पित धर्मों से पारमार्थिक अद्वैत को हानि नहीं होती।

किन्तु साधारण व्यवहार में जगत विषयक जो ज्ञान हमको मिलता है वह कैसे मिला ? और वह सच्चा है कि नहीं ? उसकी जाँच नहीं करते। इसलिए यह विषय सरल करने के लिए स्वप्न के दृष्टांत का उपयोग किया जाता है जैसे स्वप्न का जगत सिर्फ स्वप्न के ज्ञान की दशा है वैसे जाग्रत का जगत भी जाग्रत के ज्ञान की दशा है।स्वप्न में एक जीव है फिर भीं गलती से अनेक दिखते हैं। स्वप्न में ज्ञाता और ज्ञेय दोनों वृत्तिज्ञान के परिणाम हैं। स्वप्न में अनेक मनुष्य दिखते हैं उसमें से एक "मैं" ही ऐसा क्यों मान लेते हैं ? और सभी के बीच संबंध होता है और बातचीत कैसे होती है? जगने के बाद पता चलता है कि वह सब ज्ञान का खेल था। इस सभी द्वैत का कारण अहंकार था जब अहंकार कार्य करता है तभी द्वैत मालूम पड़ता है और उस समय गलती का पता नहीं चलता। जाग्रत में भी सब खेल का कारण अहंकार है लेकिन जब अहंकार आगे आता है तभी गलती का पता नहीं चलता। नीति में और समाज में, धर्म में और ज्ञान में अधिकतर मनुष्य अपनी मान्यताओं को पूजते हैं।यह एक प्रकार की मूर्तिपूजा है। अतः शास्त्र सभी अहंकार दूर करने का कहते हैं किन्तु यह बहुत कठिन कार्य हैं। जब हम जानते हैं कि अहंकार गया है उस समय भी वह एक कोने में गुप्त बैठा हुआ हो ऐसा मालूम पड़ता है और समय आनेपर प्रकट हो जाता है।अहंकार सच्ची वस्तु नहीं है।फिर भी संसार का पूरा व्यवहार उससे चलता है। अहंकार नींद में चला जाता है फिर भी उसका बीज रह जाता है। चित्र वाला पर्दा समेट लेते हैं तभी चित्र नहीं दीखते तो भी चित्र उसमें होते हैं, और पर्दा खोलनेपर दीखते हैं; ऐसे ही मन की कल्पनायें फिर से स्वप्न और जाग्रत में नई बनती हैं। यह सब वहम हैं,ये सब दूर कर सके तो ब्रह्मदशा आने में समय नहीं लगेगा। उस दशा में अनेक जीव नहीं रह सकते। मैं का बहुवचन नहीं होता। मैं का बहुवचन करना हो तो मैं के साथ तू और वह लेने पड़ेंगे,अतः मैं एक है। झूठा मैं दूसरे मैं को तू कहता है। अहंकार हिरण्यकशीपु का स्वरुप है।उसे रात्रि में मरना पसंद नहीं है और दिन में भी मरना पसंद नहीं है।सिर्फ दो वृत्ति के मध्य संधि के समय ध्यान रख सके तो आत्मा का दर्शन हो और अहंकार मरे।

शिष्य- ज्ञानी के जीवन में कुछ अंतर पड़ता है कि नहीं ?

गुरु - जरूर, जिसकी दृष्टि में द्वैत नहीं है उसके जीवन में अंतर आ जायेगा। उसके जीवन में कुछ अच्छा और कुछ अच्छा नहीं ,ऐसा नहीं रहता। यह दूसरे है ऐसा मानकर दूसरों को मदद नहीं करता।चैतन्य एक होनेसे उसमे एक दूसरे पर उपकार करने जैसा नही रहता किन्तु उपाधिगत चैतन्य यानी एक उचिदाभास दूसरे चिदाभास को मदद करता है। जैसे पशु के ज्ञान में और मनुष्य के ज्ञान में बहुत अंतर है।जैसे पशु मनुष्य को समझ नहीं सकते वैसे ही ब्रह्म दशा के धर्म उस दशा वाले समझ सकते हैं,अन्य दशावाले समझ नहीं सकते। ब्रह्म से जगत भिन्न नहीं है। उन दोनों के बीच सच्चा संबंध नहीं हो सकता। संबंध दो परिमित वस्तुओं के बीच होता है। जहाँ संबंध की बात आती है वहां सापेक्षता की बात आती है। ब्रह्म स्वयं निरपेक्ष absolute सत्य है।

जब मनुष्य मनुष्य के समाज में होता है तभी वह अपना ज्ञान ठीक नहीं करता लेकिन सभी जैसा कहते हैं वैसा ठीक है ऐसा मानकर अपने जाग्रत स्वप्न में से नहीं जगता।

शिष्य - मेरे मन से कुछ वहम अभी भी नहीं निकल रही है।

गुरु - कौन कौनसे ?

१) शिष्य-जीव अनेक हैं,एक नहीं हो सकता। एक जीव मानोगे तो व्यवहार नहीं होगा।

२) जिस जीव को ब्रह्मज्ञान होता है वह मुक्त होता है,जिसको ब्रह्मज्ञान नहीं होता उसको बंधन रहता है।

३) इसप्रकार अनेक जीव होने से अज्ञान भी अनेक हैं।

४) यदि एक अज्ञान माने तो एक के अज्ञान से कार्य सहित समस्त अज्ञान की निवृत्ति हो जायेगी।ऐसी दशा में प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध जगत का अनुभव नहीं होना चाहिए।

५) यदि ऐसा कहोगे कि आज तक किसीको ज्ञान नहीं हुआ तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। जिन्होने अच्छी तरह से शम दम आदि से श्रवण मनन का साधन किया हुआ है,ऐसे प्राचीन व्यास,वशिष्ठ आदि को यदि ज्ञान नहीं हुआ हो तो अभी के पुरुषों को ज्ञान होने की कोई संभावना नहीं है।

६) और मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ,आदि हरेक मनुष्य कहते हैं और हरेक के सुख दुःख आदि अलग अलग होने से जीव अनेक हैं इसलिए अज्ञान भी अनेक हैं।

गुरु - यह प्रश्न उस प्रत्यक्ष प्रमाण के आधारपर पूछे हुए हैं लेकिन प्रत्यक्ष प्रमाण स्वयं सच्चा है कि नहीं उसकी पहले जाँच करनी चाहिए अर्थात् उसमें से ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं कि:-

१) व्यवहार के योग्य घट आदि वस्तुओं को विषय करना यही प्रमाण का प्रयोजन है, कि

२) सर्वथा अबाधित अर्थ को विषय करता है इसलिए प्रमाण का प्रमाणपना है ?

प्रथम प्रश्न ठीक नहीं है क्योंकि कल्पित वस्तु (यानी सीपीमें दिखनेवाला रूपा) भी व्यवहार के योग्य हो जाता है।

दूसरे प्रश्न का विचार करे तो प्रत्यक्ष प्रमाण में जो अबाधित अर्थ को विषय करनेरूप प्रमाण है वह अपनी सत्ता से सिद्ध हैं कि दूसरे कि सत्ता से है। उसमें प्रथम पक्ष बराबर नहीं है क्योंकि भ्रान्ति ज्ञान की वह इन्द्रिय जन्य होने से उसमें दोष की संभावना रहती है। और उसमें अपने प्रमाण के लिए दोष का अभाव हो वैसे अन्य प्रमाण की अपेक्षा रहती होने से उसमें अपनी प्रमाणता नहीं रहती।दूसरे पक्ष का विचार करे तो जो प्रमाण दूसरे प्रमाण की मदद मांगता है उसको प्रत्यक्ष प्रमाण कहने से अनवस्था दोष आता है। किसी भी तरह से प्रत्यक्ष प्रमाण अबाधित अर्थ को बता नहीं सकता। और श्रुति भी प्रत्यक्ष प्रमाण का खंडन करती है। 'नेह नानास्ति किंचन' यह श्रुति अधिष्ठान ब्रह्म में समस्त जगत का मिथ्यात्व बताती है अतः प्रत्यक्ष प्रमाण सच्चा नहीं है। कुछ लोग मानते हैं कि जैसे घर में अंधकार रहता है और घर को व्याप्त करता है वैसे अज्ञान भी ब्रह्म में है और ब्रह्म को ढंकता है। लेकिन ब्रह्म में अज्ञान आया कहां से ? इससे जीव भी है ऐसा मानलो ? अब जीव और ब्रह्म का भेद स्वभाविक है कि उपाधि से सिद्ध है ?

शिष्य- ब्रह्म और जीव का भेद उपाधि से सिद्ध हो तो उस उपाधि का स्वरुप क्या है ?

गुरु- वेदांत में अज्ञान को ही उपाधि माना हुआ है, और यह अज्ञान ऐसा हे कि प्रमाण से सिद्ध नहीं होता,फिर भी अज्ञान दशा में अज्ञान मालूम पड़ता है। यह अज्ञान एक है और अज्ञान की उपाधिवाला आत्मा भी एक है। उपाधि का लक्षण ऐसा है कि जिसकी वह उपाधि हो उसको अन्य वस्तुओं से पृथ्थक करके दिखाती है और स्वयं भी पृथक रहती है अर्थात् जिस वस्तु की उपाधि हो उस वस्तु के स्वरुप में उस उपाधि का प्रवेश नहीं होता। जैसे पानी गरम है, यहाँ गर्मपना पानी की उपाधि है। उसका पानी में प्रवेश नहीं होता क्योंकि पानी वैसा का वैसा पड़ा रहे तो ठंडा हो जाता है ऐसे ही अतःकरण अथवा अविद्या जीव की उपाधि है,अतः अविद्या का

त्याग करने में जीव को कोई अड़चन नहीं है। अज्ञान रहे तो द्वैत रहे और अज्ञान नहीं रहेगा तो द्वैत नहीं रहेगा ऐसा श्रुति स्पष्ट कहती है। रज्जु सर्प की भाँती द्वैत अज्ञानजन्य है अतः आत्मतत्त्व के ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होते द्वैत निवृत्ति हो जाती है।

शिष्य - ईश्वर, जगत कारण, अंतर्यामी इन सभी का क्या अर्थ होता है ?

गुरु - प्रत्यक् आत्मा के अज्ञान से,सभी द्वैतकार अज्ञान के परिणाम में जो आत्मा का आभास है,वैसे आभासरूप तख़्त पर बैठकर आत्मा साक्षी,ईश्वर कारण और अंतर्यामी कहलाता है।

वस्तुतः असंग अद्वितीय आत्मा में साक्षित्व, ईश्वरत्व, आदि कोई धर्म नहीं है। अज्ञान का विषयाकार परिणाम होनेपर वासना से उसमें प्रपंच एवम् उसमें चैतन्य की छाया पड़ने से उस छाया में वह धर्म प्रतीत होते है। स्वप्न अवस्था में गन्धर्वनगर आदि रूप से अज्ञान का परिणाम होता है उसमें वासना वश मन की कल्पना के अनुसार उस उस मनुष्य,हाथी,घोडा, आदि रूप से अज्ञान का परिणाम होता है एयर उस समय मन उसको देखता है,किन्तु ऐसा नहीं समझता कि वह परमार्थ सत् नहीं है ऐसे ही इष्ट और अनिष्ट से आज तक जीव अज्ञान के द्वारा सुखी और दुःखी होता है। स्वप्न में कल्पित नगर के राजा का आदेश भी जीव मानता है लेकिन जागने के बाद उस पदार्थ का असली स्वरुप समझमें आता है।

परिणाम दशा में अविद्या प्रतिबिंबित आत्मा को यद्यपि वस्तुतः अविद्या संबंध नहीं है तथापि अविद्या से प्राणादिरूप मानता है। जैसे स्वप्न में जीव अपने को देव आदि स्वरुप में मानकर वैसा व्यवहार करता है लेकिन वास्तवमें वह देव आदि शरीर से असंबद्ध है,ऐसे ही प्राणादि तादात्म्य भी आत्मा में नहीं है,फिर भी व्यवहार दशा में अज्ञान से अपने में प्राण तादात्म्य मानता है। 'असंगो ह्ययं पुरुषः' श्रुतियां वास्तविक संग का निराकरण करती है। अविद्यावाले कल्पित संग का नहीं।

प्रातिभासिक रूपा आदि यदि अत्यंत असत् हो तो उसकी अपरोक्ष प्रतीति नहीं सकेगी। अपरोक्ष चैतन्य के अध्यास के बिना अनात्म वस्तु अपरोक्ष नहीं होती,अतः अपरोक्ष चैतन्य में अपरोक्ष विषय घट आदि का अध्यास माना जाता है। उसीप्रकार अपरोक्ष विषय रूपा का भी आत्मा में अध्यास होने से अपरोक्षत्व होता है। अतः रूपा भी सच्चा जैसा लगता है। विषय प्रवृत्ति का कारण है। विषय नहीं रहे तो प्रवृत्ति कहाँ रहेगी ? जब महावाक्य के ज्ञान से आत्म यथार्थ बोध होता है तभी अज्ञान की निवृत्ति होनेपर तात्वज्ञानी सब प्रवृत्तियों से उपराम हो जाते हैं। जब कर्तापना और भोक्तापना का बाध होता है तभी लौकिक और वैदिक दोनों कर्म बाधित हो जाते हैं, कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है। मोक्ष सिद्ध है और फल की कामना मुमुक्षु को नहीं होती अतएव कर्म में प्रवृत्ति नहीं बनती।

शिष्य- तो ज्ञानी भिक्षा क्यों करता है ?

गुरु - भिक्षा आदि का कारण प्रारब्ध कर्मवश शरीर धारण के उपयोगी शरीर की क्षुधा आदि दोष है। वह दृष्ट है।इसलिए उसमें प्रवृत्ति होती है। दूसरे फल की इच्छा नहीं है। श्रुति में निषेधवाक्य और महावाक्य भ्रांत पुरुष की प्रवृत्ति रोकने से अतिरिक्त कुछ कर्तव्य अर्थ में उपदेशक नहीं है,अतएव वह कार्य परक नहीं है, किन्तु वस्तुतंत्र है। अधिकार निवृत्त होनेपर व्यवहार निवृत्ति हो जाती है।

शिष्य- अज्ञान में ऐसी शक्ति कहाँ से आयी ?

गुरु - व्यवहार में जिस योद्धा को अपने पराक्रम का पता नहीं है वह युद्ध में मर जाता है।ऐसे ही ब्रह्म का अज्ञान सभी अनर्थों का कारण है। वस्तु में जैसी मर्यादा है वैसी मर्यादा अज्ञान में नहीं है। स्वप्न में पुरुष अपना मस्तक कटा हुआ देखता है। जाग्रत में नहीं देख सकता।

तत्त्वमसि आदि महावाक्य अब्रह्म और अनात्मता के ज्ञान के ज्ञान के निवर्तक है।अनात्मा की और अब्रह्मता की निवृत्ति होनेपर प्रवृत्ति नहीं रहती। मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होनेपर मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली स्वाभाविक अनात्म वस्तु विषयक स्मृत्तियां नहीं होती। आत्मज्ञान होने के बाद अनात्म पदार्थ अनर्थ रूप प्रतीति होती है। क्योंकि अनात्म वस्तुओं में अनित्यत्व ,दुःख,अशुचि आदि अनेक दोष हैं,आत्मवस्तु में ऐसा नहीं है,अतः आत्मा का ज्ञान होनेपर अनात्मज्ञान की स्मृत्तिओं का अभाव है। शेष आत्मैकत्व ज्ञान की स्मृति संतति प्राप्ति रहती है। उसके लिये कोई विधि अथवा कर्म की जरूरत नहीं है।और फिर आत्मस्मृति शोक,मोह,भय,थकान,आदि दु:खप्रद दोष की निवर्तक है क्योंकि शोक,मोह,आदि दोष विपरीत ज्ञान से उत्पन्न होते हैं।

वेदवाक्य से उत्पन्न हुए आत्मज्ञान से चित्तवृत्तिओं का निरोध शीघ्र होता है। अन्य दर्शनों में अज्ञान का जोर अधिक होता है अतएव निरोध करने में विधि मानी हुई है।

शिष्य- ज्ञानी को भी प्रारब्ध कर्म रहता है और उससे मन वचन और प्रवृत्ति रहती है। बाण छूटने के बाद उसके कर्म को नहीं रोका जा सकता।

गुरु -यदि त्याग,वैराग्य आदि साधनों के अवलंबन से आत्मविज्ञान संतति हो तो प्रारब्ध का भोग बराबर हो जायेगा,आत्मनित्य लब्धस्वरूप है,उसमें सिर्फ अविद्या का अंतर होता है वह आत्मज्ञान से दूर हो जाता है। सीपी का ज्ञान होनेपर उससे विपरीत रूपा के आभास का अग्रहण होता है। उसमे सिर्फ विपरीत ज्ञान का ही अंतर था अतएव सीपी का ज्ञान मात्र ही ग्रहण रूप से रहता है। सच्चाज्ञान विपरीत ज्ञानरूप व्यवधान(अंतर) का नाश कर देता है।

शिष्य- अज्ञान आने के बाद विपरीत ज्ञान आता है ऐसा अज्ञान आया कहाँ से ?

गुरु - अज्ञान अनिर्वाचनिय है।उसके लिए प्रमाण की जरूरत है कि नहीं ? यदि प्रमाण से अज्ञान सिद्ध हो तो अज्ञान की निवृत्ति होगी नहीं और प्रमाण से अज्ञान मालूम नहीं पड़ता तो अज्ञान सिद्ध ही नहीं होगा,अतः शंका के बिना श्रद्धा से आत्मनिष्ठा होगी तो अज्ञान मिलेगा नहीं तो उसके कार्यरूप जीव जगत मिलेगा नहीं। अज्ञान विचार को सहन नहीं कर सकता। ठीक से विचार करोगे तो अज्ञान रहेगा नहीं। नाम रूप की अभिव्यक्ति से पहले बुद्धिवृत्ति की अभिव्यक्ति नहीं होती। नामरूप की अभिव्यक्ति क्र बाद प्रमाण से अज्ञान का नाश होता है अतः प्रमाण से अज्ञान का ज्ञान नहीं होता।

शिष्य- आत्मा अज्ञान का नाश करेगा तो उस समय आत्मा में विकार उत्पन्न होगा।

गुरु - स्वरुप सत्तामात्र से दूसरों पर उपकार करनेवाले में विकार नहीं रहता क्योंकि उसमें यत्न का उपयोग नहीं है,और फिर आत्मा में भूतकाल का संबंध नहीं है और भविष्यकाल का भी संबंध नहीं है। ऐसा संबंध हो तो वर्तमान काल में प्रत्यागात्मा की प्रतीति भी नहीं होगी।काल के भ्रम वाली तीनों अवस्थामें तत्वज्ञानी अविलुप्त स्वयंप्रकाश दृक् स्वरुप आत्मा को सदा देखता है। जैसे प्रत्यागात्मा काल भेद को देखता नहीं है वैसे प्रत्यक् आत्मा में देश भेद भी उत्पन्न नहीं होते।अतः परस्पर व्यभिचारी अनेक शरीरों में सर्वत्र अव्यभिचारी प्रत्यक् चैतन्य एक है।

शिष्य- ज्ञान आत्मा का स्वभाव है और उत्पन्न होता हो वैसा मालूम पड़ता है।

गुरु - ज्ञान की उत्पत्ति आदि औपचारिक हैं।अहंकार आदि वृत्ति रूप उपाधियों की उत्पत्ति ज्ञान से उत्पन्न होता मालूम पड़ता है।उपाधियों के नाश से नाश का साक्षी आत्मा होने से , ज्ञान का नाश होता मालूम पड़ता है लेकिन वास्तव में साक्षी ज्ञानी है अतः ज्ञान की अनित्यता को ईश्वर भी सिद्ध नहीं कर सकते। यदि आत्मा कार्य होता तो उसका प्राग्भाव भी होता लेकिन वैसा नहीं है,क्योंकि सभी अभाव का साक्षी होने से ज्ञान का प्राग्भाव भी नहीं बनता।

शिष्य - यदि अज्ञान सिद्ध नहीं हुआ तो उसके कार्यरूप संसार ही नहीं रहेगा।

गुरु - यह प्रश्न अज्ञानी का है या ज्ञानी का ? अज्ञानी तो ऐसा प्रश्न पूछेगा ही नहीं,क्योंकि उसको अज्ञान की असिद्धि नहीं है। और ऐसा प्रश्न ज्ञानी भी नहीं पूछेगा क्योंकि उसको अज्ञान मालूम ही नहीं पड़ता है। अतः अज्ञानी की दृष्टी में आत्मतत्त्व रात्रि के समान है और ज्ञानी की दृष्टि में संसार रात्रि क्र समान है,यह बात भगवान ने गीता में दूसरे अध्याय में स्पष्ट की है।

शिष्य -जीव कैसे बनता है ?

गुरु - स्वयंप्रकाश आत्मा कूटस्थ होनेपर भी बाह्य व्यवहार में अपने चिदाभास से युक्त अज्ञान के संबंघ से जीव अथवा प्रमाता बन जाता है। प्रत्यगात्मा का स्वरुप शुद्ध चैतन्य मात्र है। उसमें प्रमाता प्रमाण आदि भेद नहीं है। जैसे घट आदि के ज्ञान की उत्पत्ति काल में अथवा कालान्तर में प्रमाता प्रमाण आदि भेद है वैसे प्रत्यक् आत्मा में भेद नहीं है क्योंकि ज्ञान उत्पन्न होनेपर प्रमाता आदि भेद बाधित हो जाते हैं। अतएव बाहर के पदार्थों की नाईं प्रत्यगात्मा में प्रमाता आदि का भेद नहीं है।आत्मा के अबाधित यथार्थ स्वरुप का प्रकाश करने से प्रमाण आत्मा में प्रमाणता को प्राप्त होता है।सिर्फ जड़ अंश की उसमें प्रमाणता नहीं है।

अज्ञान का आत्मा के स्वरुप के साथ विरोध नहीं है लेकिन प्रमाणरूप (यानी ब्रह्माकार वृत्तिरूप) ज्ञान के साथ विरोध है।अतः आत्मा में अज्ञान और उसके कार्य जगत की सिद्धि विचार के अभाव से है। अज्ञातत्त्व प्रमाण से प्रतीत नहीं होता। प्रमाण से ज्ञातत्त्व उत्पन्न होता है।प्रमाणों से अज्ञातता उत्पन्न हो तो प्रमाण का फल क्या ? जैसे अज्ञात वस्तु प्रमाण से सिद्ध नहीं होती तैसे मिथ्या ज्ञान और संशय ज्ञान यानी वहम भीं प्रमाण से सिद्ध नहीं होते।प्रमाण से तो संशय मिट जाता है।

II ॐ II